डॉ. नगेन्द्र

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका

डॉ. नगेन्द्र

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका

भारतीय
सौन्दर्यशास्त्र
की
भूमिका

नेशनल पब्लिशिंग हाउस · दिल्ली

डॉ. नगेन्द्र

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, दिल्ली-११०००६
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण १९७४
© डॉ० नगेन्द्र
: मूल्य २०.००

सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस
मौजपुर, शाहदरा, दिल्ली-११००५३

BHARTIYA SAUNDARYA-
SHASTRA KI BHOOMIKA
(Aesthetics)
Dr. Nagendra

स्वर्गीया सावित्री सिन्हा की
पुण्यस्मृति में

निवेदन

एक स्वतन्त्र विद्या या अनुशासन के रूप में सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। पाश्चात्य वाङ्मय में भी, जहाँ लगभग दो सौ वर्ष से इस विषय का विधिवत् अनुशीलन हो रहा है, सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी धारणाएँ आज तक सर्वथा स्पष्ट और निश्चित नहीं हो सकी हैं। अधिकांश ग्रन्थों में अब भी पहले इसी प्रश्न पर विचार किया जाता है कि सौन्दर्यशास्त्र-जैसा कोई स्वतन्त्र शास्त्र है भी कि नहीं। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र पर तो कोई ग्रन्थ उपलब्ध ही नहीं है—न अँगरेज़ी में और न किसी भारतीय भाषा में। इसमें सन्देह नहीं कि वरिष्ठ विद्वानों में आनन्द कुमारस्वामी, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त और इधर प्रवासजीवन चौधरी, कान्तिचन्द्र पाण्डेय तथा मर्ढेकर आदि ने काव्य एवं अन्य कलाओं के सन्दर्भ में सौन्दर्य-तत्त्व की सूक्ष्म-गहन मीमांसा की है, परन्तु उनके विचार प्रकीर्ण रूप में ही मिलते हैं। ऐसा कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है जिसमें भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के विकास-क्रम का निरूपण करते हुए उसके विविध अंगों का विधिवत् अध्ययन किया गया हो। इस दृष्टि से, मेरी यह कृति प्रस्तुत विषय की रूपरेखा तैयार करने में यदि थोड़ा-बहुत भी योगदान कर सकी तो मैं अपने श्रम को सार्थक मानूँगा।

इस शोध-परियोजना पर आनुषंगिक व्यय की पूर्ति के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय से मुझे २,५०० रु० का अनुदान प्राप्त हुआ है। मैं विश्वविद्यालय के अधिकारिवर्ग—विशेषकर कुल-पति महोदय का, साधुवाद करता हूँ।

—नगेन्द्र

संवत् २०३१ वि०
नौमी भौमवार मधुमासा—

अनुक्रम

अध्याय १ :	सौन्दर्यशास्त्र	१-१९
	सौन्दर्यशास्त्र का अर्थ	१
	सौन्दर्यशास्त्र की स्वतंत्र सत्ता	६
	सौन्दर्यशास्त्र के अंग : विवेच्य विषय, और मूल समस्याएँ	१५
अध्याय २ :	सौन्दर्य की परिभाषा और स्वरूप	२०-३०
	पाश्चात्य अवधारणा	२०
	वस्तुवादी व्याख्या	२३
	भाववादी व्याख्या	२३
	सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है या व्यक्तिनिष्ठ ?	२५
	सौन्दर्य की रूपाकृति	२७
अध्याय ३ :	भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य की अवधारणा	३१-६१
	सौन्दर्य शब्द और उसके पर्याय	३१
	वैदिक साहित्य में सुन्दर तथा सौन्दर्य के पर्यायवाची शब्द और उनकी अर्थ-मीमांसा	३३
	रामायण	३८
	महाभारत	४८

अभिजात संस्कृत-काव्य में सौन्दर्य-विवेचन ५३

भारतीय दर्शन में सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्वों की मीमांसा ५५

शैवदर्शन ५६

भक्ति-साहित्य ६२

कलाशास्त्र ७१

संगीत ७६

भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य-विवेचन ८२

सौन्दर्य शब्द का पारिभाषिक प्रयोग ८३

कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द ८६

अध्याय ४ : सौन्दर्यानुभूति ९२-११७

अध्याय ५ : सौन्दर्य का मूर्त रूप=कलाकृति, और उसकी रचना-प्रक्रिया ११८-१३२

अध्यांय ६ : भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य-मीमांसा तथा मूल्यांकन के निकष १३३-१५७

भौतिक मूल्य और उनके आकलन के प्रतिमान १३४

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य-मीमांसा के प्रतिमान १३६

अध्याय ७ : सौन्दर्य-मूल्य तथा अन्य जीवन-मूल्य १५८-१९२

मूल्यों के प्रकार १६१

सौन्दर्य तथा इतर मूल्यों का भेद १६४

भारतीय वाङ्मय में मल्य-विवेचन १६७

सौन्दर्य मूल्य की स्वतंत्र सत्ता से क्या अभिप्राय है ? १७४

भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य तथा अन्य जीवन-मूल्यों का सम्बन्ध १७६

कलाशास्त्र १८२

यश की मूल्यरूपता १८५

निष्कर्ष १८९

अध्याय ८ : उपसंहार १९३-२०६

१. **भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की विकास-रेखा** १९३

(क) सौन्दर्य शब्द और उसके पर्याय १९३

(ख) सौन्दर्य-विवेचन १९४

सौन्दर्य का सामान्य विवेचन १९४

कलागत सौन्दर्य का विवेचन १९६

२. **सौन्दर्य-विषयक भारतीय तथा पाश्चात्य अवधारणाएँ : तुलनात्मक विवेचन—** २००

दिव्य सौन्दर्य—आत्मवादी व्याख्या २००

भाववादी व्याख्या २०१

रूपवादी व्याख्या २०२

रूपाकृति २०३

सौन्दर्य-दृष्टि २०४

३. **भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का वैशिष्ट्य** २०८

नामानुक्रमणिका २०७

□ □ □

भारतीय
सौन्दर्यशास्त्र
की
भूमिका

अध्याय : एक

सौन्दर्यशास्त्र

सौन्दर्यशास्त्र का अर्थ

सौन्दर्यशास्त्र भारतीय वाङ्मय के लिए एक नया शब्द है। वर्तमान युग से पूर्व भारतीय वाङ्मय में न तो इस शब्द का प्रयोग मिलता है और न इस नाम के किसी शास्त्र का उल्लेख ही। हिन्दी तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में इसका निर्माण ऐस्थेटिक्स के पर्याय रूप में किया गया है। ऐस्थेटिक्स शब्द यूनानी भाषा के एस्थेसिस शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है ऐन्द्रिय संवेदना। इस प्रकार ऐस्थेटिक्स का शब्दार्थ होता है—ऐन्द्रिय संवेदना का शास्त्र। पाश्चात्य वाङ्मय में बाउमगार्टन[1] ने प्रस्तुत सन्दर्भ में पहली बार उक्त शब्द का प्रयोग कर इस बात पर बल दिया था कि सौन्दर्य मूलतः एक प्रकार का ऐन्द्रिय संवेदन ही है। परम्परा के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र दर्शन की एक शाखा है जिसका विवेच्य विषय है कला और प्रकृति का सौन्दर्य। कांट ने इसका सम्बन्ध अभिरुचि-विषयक चिंतन अथवा निर्णय के साथ माना है और हीगेल ने इसे कला का दर्शन कहा है। आधुनिक विचारक इसे दर्शन की अपेक्षा विज्ञान कहना ज़्यादा पसन्द करते हैं। सौन्दर्यशास्त्र ऐन्द्रिय संवेदना का विज्ञान है, जिसका लक्ष्य है सौन्दर्य[2]। यहाँ कुछ प्रामाणिक परिभाषाओं पर विचार कर लेना उपयोगी होगा :

१. एलेग्ज़ांडर बाउमगार्टन (१७१४-१७६२) मध्यम श्रेणी का जर्मन दार्शनिक
२. वेब्स्टर्स थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी

१. यह एक ऐसा विषय है जिसके अन्तर्गत सौन्दर्य का सम्पूर्ण क्षेत्र आ जाता है—और स्पष्ट रूप से कहें तो इसका क्षेत्र कला का, या कहना चाहिए कि, ललित कला का क्षेत्र है। × × × हमारे अभिप्रेत अर्थ को पूर्णतः व्यक्त करने वाला शब्द है कला-दर्शन अथवा ललितकला-दर्शन[1]।—(हीगेल)

२. सौन्दर्यशास्त्र से मेरा आशय दर्शन के उस विभाग से है जो सुन्दर पदार्थों की सत्ता और उनके विषय में मानवजाति के प्रतिसंवेदन, कलात्मक कर्तृत्व और उसके प्रति मानव-मन की प्रतिक्रिया, तथा इनसे सम्बद्ध चिंतन-मनन आदि से उत्पन्न समस्याओं पर विचार करता है।

३. × × × सौन्दर्यशास्त्र की समाहृति अवधारणाओं—विशेषतः कला और सौन्दर्य-विषयक अवधारणाओं में निहित है। यदि यह सत्य है तो इसे अवधारणा-मूलक परिपृच्छा—अर्थात् दार्शनिक (तात्त्विक) परिपृच्छा के रूप में समाहृत किया जा सकता है[2]। —(स्पारशॉट)

४. विद्या के एक अंग-विशेष के रूप में सौन्दर्यशास्त्र ऐसे सिद्धान्तों की संहिता है जो आलोचनात्मक वक्तव्यों के स्पष्टीकरण एवं पोषण के लिए आवश्यक होते हैं। अतः सौन्दर्यशास्त्र को आलोचना का दर्शन—तत्त्वालोचन माना जा सकता है। × × × सौन्दर्यशास्त्र का विचार हम एक पृथक् दार्शनिक परिपृच्छा के रूप में करेंगे : इसका सम्बन्ध व्यापक अर्थ में आलोचना की प्रकृति और आधार के साथ है, जैसे कि आलोचना का सम्बन्ध कलाकृतियों के साथ है।[3] —(मुनरो सी० बिअर्ड्स्ले)

५. सौन्दर्यशास्त्र कलाओं और उनसे सम्बद्ध (मानव) व्यवहार तथा अनुभूति का सैद्धान्तिक अध्ययन है। परम्परा के अनुसार यह दर्शन की एक शाखा है, जिसका प्रयोजन है सौन्दर्य तथा कला और प्रकृति में अभिव्यक्त उसके बहुविध रूपों का अध्ययन[4]। —(हेलमुट कून्न)

६. कुछ अन्य विद्वानों ने सौन्दर्यशास्त्र का प्रयोग कला-सम्बन्धी सामान्य परिपृच्छा के अर्थ में किया है, जो दार्शनिक भी हो सकता है और वैज्ञानिक भी—अथवा यह प्रस्ताव किया है कि सौन्दर्यशास्त्र को विज्ञान ही मान लेना चाहिए (देखिए—मुनरो का मत—८५-१५०)

—(एफ़० ई० स्पारशॉट[5])

उपर्युक्त वक्तव्यों का विश्लेषण करने पर कुछ तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं:

१. हीगेल : दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ फ़ाइन आर्ट (१६२०), पृ० १-२
२. दि स्ट्रक्चर ऑफ़ ऐस्थेटिक्स १६६३, पृ० ३-४
३. मुनरो सी० बिअर्ड्स्ले—प्रोब्लम्स इन दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ क्रिटिसिज़्म, पृ० ४, ६
४. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, हेलमुट कून्न (१६६८)
५. दि स्ट्रक्चर ऑफ़ ऐस्थेटिक्स (६३), पृ० ३

१. सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय है सौन्दर्य ।

२. सौन्दर्य मूलत: ऐन्द्रिय संवेदना का ही विषय है ।

३. सौन्दर्य के दो आधार हैं : प्रकृति और कला ।

४. सौन्दर्यशास्त्र का विषय प्रकृति और कला दोनों का सौन्दर्य है या केवल कला का ? इस विषय में विशेषज्ञों में मतभेद है। बहुमत अभी, हीगेल के आधार पर, यही है कि सौन्दर्यशास्त्र की परिधि में केवल कला का सौन्दर्य ही आता है, प्रकृति का नहीं ।

५. कला-विवेचन के सभी अंग अथवा प्रवृत्तियाँ सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत नहीं आतीं; उदाहरण के लिए, व्यावहारिक समीक्षा के विविध रूप अर्थात् कला-कृतियों का ऐतिहासिक, व्याख्यात्मक, समाजशास्त्रीय अथवा मनोवैज्ञानिक विवेचन सामान्यत: इसकी परिधि में नहीं आता ।

६. इसका सम्बन्ध केवल सैद्धान्तिक विवेचन से है—अर्थात् कला में निहित सौन्दर्य की प्रकृति, मूल-तत्त्व, आस्वाद, प्रयोजन, जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकृति, सर्जना की प्रेरणा, प्रक्रिया और उपादान आदि का सैद्धान्तिक अथवा अवधारणामूलक विवेचन ही इसकी विषय-परिधि में आता है। यह कला-समीक्षा नहीं है, वरन् कला के मौलिक सिद्धान्तों की संहिता है ।

७. इसके लिए दर्शन और विज्ञान दोनों अभिधानों का प्रयोग हो रहा है। दर्शन और विज्ञान की अवधारणा में एक सीमा तक मौलिक साम्य है—दोनों पदार्थों के स्वरूप, रचना, विकास-क्रम, परस्पर सम्बन्ध, प्रयोजन आदि के सामान्य नियमों तथा आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं। मूल अन्तर दोनों में यह है कि विज्ञान के निष्कर्ष जहाँ तथ्यात्मक होते हैं—अर्थात् भौतिक स्तर पर सत्यापित किये जा सकते हैं, वहाँ दर्शन के निष्कर्ष अन्ततः बुद्धि-कल्पना-गम्य ही रहते हैं ।

८. सौन्दर्यशास्त्र दर्शन है या विज्ञान ? परम्परा उसे दर्शन मानती है, किन्तु आधुनिक चिंतन उसे विज्ञान के रूप में ग्रहण करने के पक्ष में है। उपर्युक्त स्वरूप-विश्लेषण के आधार पर इसे विज्ञान की अपेक्षा दर्शन मानना ही अधिक संगत प्रतीत होता है क्योंकि इसके निष्कर्ष तथ्यात्मक नहीं होते, फिर भी इसकी प्रविधि-प्रक्रिया पर विज्ञान का गहरा प्रभाव है, इसमें संदेह नहीं। इस दृष्टि से संस्कृत शब्द 'शास्त्र' इन दोनों की अपेक्षा अधिक सार्थक है क्योंकि उसमें दर्शन और विज्ञान दोनों के दृष्टिकोणों का समन्वय है : वह वास्तव में किसी भी मौलिक विषय से सम्बद्ध सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों का समाहार है जो एक ओर दर्शन के बुद्धि-कल्पना-मूलक निष्कर्षों और दूसरी ओर विज्ञान की तथ्यमूलक प्रविधि-प्रक्रिया को अपने स्वरूप में समाहृत कर लेता है। पाश्चात्य विचारकों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली—'अवधारणा-

मूलक परिपृच्छा' अथवा 'सैद्धान्तिक अध्ययन' 'शास्त्र' के ही अस्पष्ट पर्याय हैं।

इस प्रकार, सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं के रूप में अभिव्यक्त सौन्दर्य से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों के तात्त्विक विवेचन और उसके परिणामी सिद्धांतों की संहिता का नाम है।

उपर्युक्त परिभाषा को संपुष्ट करने से पूर्व एक प्रश्न का तर्क-सम्मत समाधान कर लेना आवश्यक है और वह यह कि सौन्दर्य की अवधारणा को केवल ललित कलाओं तक परिसीमित कर लेना कहाँ तक उचित है? जैसा कि मैंने ऊपर संकेत किया है, यह प्रश्न काफ़ी विवादास्पद रहा है। हमारी पहली प्रतिक्रिया तो वास्तव में यही होती है कि प्रस्तुत प्रसंग में प्रकृति के सौन्दर्य का बहिष्कार अनावश्यक और असंगत है। सौन्दर्य के समस्त लक्षण जिस प्रकार ललित कलाओं पर घटित होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के रूपों पर भी। फूल का रूप, चाँदनी की कोमल आभा, कोकिल की काकली—सभी में ऐसे गुण विद्यमान हैं जो हमारी चेतना को चमत्कृत करते हैं, और इनके विषय में हमारी प्रतिसंवेदना व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त, तटस्थ और निरपेक्ष होती है। इनके रूप का भी हम, भावन करते हैं ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष मात्र नहीं—अर्थात् इनकी अनुभूति में भी ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त कल्पना का योगदान निश्चय ही रहता है—और इनके साक्षात्कार से भी प्रमाता का चित्त वैशद्य-लाभ करता है। इन्हीं कारणों से प्रकृति-दर्शन में भी विदेश के अनेक विचारक—लोंजाइनस, बर्क, कांट, कैरिट आदि—सौन्दर्यानुभूति की सत्ता मानते हैं और भारतीय आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति की अनुभूति में रस की स्थिति स्वीकार करते हैं। ऐसा प्रत्येक पदार्थ सुन्दर है जिसके भावन या सृजन में मनुष्य अपनी सक्रिय चेतना या उस परम चेतना के, जिसका वह अंग है, अव्यक्त आशय को व्यक्त करता है अथवा अपने लिए गोचर बनाता है। (ई० एफ़० कैरिट : दि थिअरी ऑफ़ ब्यूटी, पृ० ३०)।

इसके विरोध में कलावादियों के अपने तर्क हैं। इनके नेता हैं हीगेल, क्रोचे, बोसांके आदि। पहला और सबसे प्रबल तर्क यह है कि प्रकृति में मनस्तत्त्व का अभाव रहता है : उसमें यदि कभी मनस्तत्त्व की प्रतीति होती है तो वह आरोपित ही हो सकती है; और मनस्तत्त्व के अभाव में सौन्दर्य की प्रकल्पना अपूर्ण ही रहती है। प्रकृति में ऐन्द्रिय आकर्षण है, कल्पना और भावना को उद्बुद्ध करने की क्षमता है, किन्तु उसमें मनस्तत्त्व का एकांत अभाव है। उसमें मूल सर्जना का तत्त्व तो है, परन्तु पुन:सर्जना के लिए अवकाश नहीं है, निर्माण की क्षमता है किंतु अभिव्यंजना नहीं है, जबकि सौन्दर्य अभिव्यंजना रूप ही होता है। दूसरा तर्क वह है जो रसशास्त्र के आचार्यों ने आज से एक सहस्र

वर्ष पूर्व प्रस्तुत किया था—अर्थात् यह कि रसानुभूति लौकिक पदार्थों के साक्षात् अनुभव से भिन्न होती है। प्रकृति के मधुर, शांत, उदात्त, अपरूप और भयावह आदि अनेक रूप हो सकते हैं। यदि साक्षात् अनुभव को सौन्दर्यानुभूति मान लिया जाए तो अपरूप और भयावह या विध्वंसकारी दृश्यों के विषय में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है: उनका साक्षात् अनुभव तो निश्चय ही क्षोभकर होता है, जबकि सौन्दर्य की अनुभूति प्रीतिकर होती है। यदि उत्तर में कहा जाए कि ये दृश्य तो सुन्दर हैं ही नहीं—ये तो स्पष्टत: कुरूप हैं, अत: इनकी अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति मानने का प्रश्न ही नहीं उठता, तब इसका प्रत्युत्तर यह है कि इन्हीं पदार्थों की कलात्मक अभिव्यक्ति—जैसे रंग-रेखा स्वर अथवा शब्द के द्वारा प्रस्तुति अवश्य ही सुन्दर होती है। जो प्रत्यक्षत: अपरूप और क्षोभकर है वह कला-निवद्ध होकर सुन्दर और प्रीतिकर बन जाता है। मानव-सौन्दर्य के विषय में यह और भी सत्य है: मानव-रूप के साक्षात् अनुभव को सौन्दर्यानुभूति मान लेने पर केवल प्रीतिकर रूप ही सुन्दर रह जायेंगे जबकि तत्त्वदृष्टि से ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि सुन्दर और सुखद पर्याय नहीं हैं—सुन्दर वस्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सुखद अवश्य होती है किन्तु प्रत्येक सुखद वस्तु सुन्दर नहीं हो सकती।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य की अनुभूति में सुन्दर पदार्थ और प्रमाता के बीच भाव्य-भावक सम्बन्ध होता है जिसमें कल्पना का सहयोग अनिवार्यत: रहता है, जबकि प्राकृतिक अथवा मानवीय रूप की प्रत्यक्ष अनुभूति में ऐसा नहीं होता: पहली स्थिति में ऐन्द्रिय सन्निकर्ष और मानसिक प्रतिक्रिया के बीच कल्पना का योगदान निश्चय ही रहता है जबकि दूसरी स्थिति में यह आवश्यक नहीं। प्रकृति-सौन्दर्य के प्रत्यक्ष भावन और चिंतन से कला का जन्म होता है और कला-निबद्ध सौन्दर्य के भावन तथा चिंतन से सौन्दर्यशास्त्र का। प्रकृति के दो रूप हैं—एक मूल भौतिक रूप है जो पंच तत्त्वों से निर्मित है और अपेक्षाकृत स्थिर माना जा सकता है, और दूसरा दृश्यमान रूप है जो ऐन्द्रिय प्रतीति का विषय है और निरन्तर परिवर्तनशील है। इनमें से पहला रूप तो प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन-अनुसंधान का विषय है। दूसरा रूप इतना अधिक प्रमातृ-सापेक्ष, अस्थिर एवं परिवर्तनशील है कि उसका व्यवस्थित विवेचन-विश्लेषण करना अत्यन्त कठिन

१. What is distinctively beautiful need not by any means be distinctively useful, comfortable or morally good. It will certainly be in its own way pleasant, as will in its way, whatever is useful or comfortable or good; but what is pleasant certainly need not be beautiful.

[*The Theory of Beauty* : E. F. Carrit (1962), p. 4]

है : उसका स्वरूप कला-निबद्ध होकर ही स्थिरता प्राप्त करता है और तभी वह अध्ययन का विषय बन सकता है। इसीलिए अधिकांश विशेषज्ञों ने प्राकृतिक सौन्दर्य का सौन्दर्यशास्त्र की परिधि में अन्तर्भाव नहीं किया।

सौन्दर्यशास्त्र की स्वतंत्र सत्ता

इस सन्दर्भ में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या सौन्दर्यशास्त्र की स्वतन्त्र सत्ता है : क्या वह स्वतन्त्र विद्या है?

प्रस्तुत प्रश्न के दो पहलू हैं। एक यह कि सौन्दर्य आस्वादन या चर्वणा का विषय है : उसका कोई शास्त्र या सिद्धान्त-संहिता नहीं हो सकती और यदि हो भी तो चर्वणा में बाधक होगी।—दूसरा पहलू यह है कि सौन्दर्यशास्त्र की काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र, कलाशास्त्र, मनोविज्ञान, और तत्त्वमीमांसा आदि से भिन्न कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। पहले का सम्बन्ध संभावना और सार्थकता से है और दूसरे का स्वतन्त्र सत्ता से। पश्चिम के प्रायः समस्त विचारक इस विषय में सतर्क हैं, लेकिन उन्होंने संभावना और सार्थकता के प्रश्न पर ही मुख्य रूप से विचार किया है।

सौन्दर्य जब आस्वाद या अनुभूति का विषय है, तो उसकी सत्ता और सार्थकता आस्वाद और अनुभूति में ही है—विचार और वितर्क में नहीं : हलवे का स्वाद तो खाने में ही है। फिर उसका दर्शन या शास्त्र कैसा? **'जो प्रेम के विषय में विचार-वितर्क करता है, वह अपनी तर्कणाशक्ति से ही हाथ धो बैठता है।'** इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि **'जो कला के विश्लेषण का प्रयत्न करता है वह कला को ही नष्ट कर देता है, अथवा जो सौन्दर्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करता है वह वस्तुतः शून्य में बात करता है।'** ×××

तर्क यह है कि जिसमें दर्शन और श्रवण की नैसर्गिक शक्ति है, उसके लिए सौन्दर्य का प्रत्येक रूप स्वतःपूर्ण एवं स्वतःस्पष्ट होता है; उसका अर्थ उसके गोचर रूप में ही निहित है और चाहे कोई कितना ही सिद्धान्त-निरूपण या विवेचन करे उससे कला तथा सौन्दर्य के विषय में हमारे ज्ञान में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती।—प्रस्तुत संदर्भ में भी, विषय के और अधिक जानने-समझने का एकमात्र यही उपाय है कि उसके बारे में लिखने-पढ़ने या चर्चा करने के बजाय हम उसका और अधिक प्रत्यक्ष अनुभव करें। इस आपत्ति के भी दो पक्ष हैं। एक तो यह कि अनुभूति का विचार संभव ही नहीं है : 'चूंकि कला की सर्जना और सौन्दर्य की अनुभूति शुद्ध बौद्धिक प्रक्रियाएँ नहीं हैं, इसलिए किसी बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा उनका परिज्ञान संभव नहीं है।' दूसरा पक्ष यह है कि इस प्रकार का विचार निरर्थक है और

सौन्दर्य के आस्वाद में बाधक भी : कभी-कभी यह विचार व्यक्त किया गया है कि सौन्दर्य में सिद्धान्त के प्रति एक विशेष अवज्ञा का भाव है; वह इतना भव्य है कि किसी प्रकार की ज़ोर-ज़बर्दस्ती करके हम उसके साथ अन्याय करते हैं क्योंकि वह तो समीर की तरह है।[1] वास्तव में इन दोनों बातों में ही विशेष तत्त्व नहीं है। बुद्धि-विचार का क्षेत्र केवल बौद्धिक विषयों तक सीमित मानना सर्वथा असंगत है : ज्ञान के अतिरिक्त मन की अन्य क्रियाओं का भी विचार हो सकता है और होता आया है। मनोविज्ञान और उससे भी अधिक मनोविश्लेषणशास्त्र इसका ज्वलंत प्रमाण है। दर्शन के अंतर्गत भी तत्त्वमीमांसा का विषय अनुभूति-निरपेक्ष नहीं है—और फिर काव्यशास्त्र या उसके अंगभूत रसशास्त्र की परम्परा तो सहस्रों वर्षों से चली आ रही है। यह ठीक है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध सहजानुभूति तथा सुरुचि से है किन्तु इनका भी तो चिंतन हो सकता है और होता रहा है। सहजानुभूति तथा सुरुचि मानव-मन की क्रियाएँ हैं जिनका अन्य क्रियाओं और प्रवृत्तियों के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। इन्हीं सम्बन्धों का विवेचन और उसके आधार पर सामान्य निष्कर्षों की सिद्धि ही तो शास्त्र है। अतः सौन्दर्य को ही शास्त्र से इतनी वितृष्णा क्यों होनी चाहिए ? उक्त दोनों आपत्तियों के प्रतिवाद में कैरिट ने लिखा है : "कवि का यह दावा करना बिल्कुल ठीक है कि **वनप्रान्तर से प्राप्त आवेग की एक तरंग या किसी मामूली कविता की एक पंक्ति समस्त विद्वत्समुदाय की अपेक्षा सौन्दर्य का दर्शन कराने में अधिक समर्थ है। लेकिन, साथ ही, यह भी ठीक है कि आवेग की उस तरंग को समझने के लिए उत्तम से उत्तम शुद्ध कविता की अपेक्षा स्वानुभूति पर आधृत अत्यंत सामान्य चिंतन भी अधिक सार्थक हो सकता है।**"[2] इनके अतिरिक्त एक आपत्ति यह भी है कि प्रत्येक कला-कृति की अपने में एक स्वतंत्र सत्ता है और उसका अनुभव विशिष्ट एवं स्वतंत्र होता है, अतः कला की अनुभूति का सामान्य विवेचन नहीं किया जा सकता। कला प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है पर सौन्दर्यशास्त्र की पद्धति वक्र और जटिल होती है, कला स्फूर्तिप्रद है किन्तु सौन्दर्यशास्त्र नीरस और जड़ है।[3] यह तर्क भी विशेष संगत नहीं है। पहले तो यह मन्तव्य ही एक सीमा से आगे ग्राह्य नहीं है कि प्रत्येक कलाकृति की स्वतंत्र सत्ता है जिसका आस्वाद भी विशिष्ट और स्वतंत्र होता है अतः उसका सैद्धान्तिक विवेचन नहीं हो सकता। यह अस्तित्ववाद का प्रभाव है जो किसी

१. हण्टर मीड—ऐन इण्ट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स (१९५२) देखिए पृ० ३-४

२. दि थिअरी ऑफ़ ब्यूटी (१९६२) : कैरिट, पृ० १९

३. देखिए—स्पारशॉट : दि स्ट्रक्चर ऑफ़ ऐस्थेटिक्स (१९६३), पृ० ६]

भी पदार्थ या विचार की सार्वभौमता में विश्वास नहीं करता। इसके परिणामस्वरूप मनोविज्ञान और दर्शन में भी सिद्धान्त-निरूपण तथा सामान्य विवेचन का विरोध बढ़ता जा रहा है। लेकिन अस्तित्ववाद स्वयं ही एक दर्शन है, और एकांगी दर्शन है, अतएव यह विरोध बहुत कुछ शाब्दिक है। सौन्दर्यशास्त्र की नीरसता या सरसता का सवाल भी बेमानी है। सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य का विचार है जो सौन्दर्य के आस्वाद का स्थान नहीं ले सकता। यह सत्य है कि सौन्दर्यशास्त्र के माध्यम से सौन्दर्य का आस्वादन नहीं किया जा सकता और उसके अध्ययन से प्रमाता में सौन्दर्य-चेतना या सुरुचि की उद्बुद्धि नहीं हो सकती, किंतु इतने से उसकी सार्थकता का निषेध नहीं हो जाता। शास्त्र का चिंतन सौन्दर्य के स्वरूप और सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया को हृदयंगम करने में सहायक होता है और इससे प्रमाता की अभिवृत्ति संस्कृत नहीं तो कम से कम प्रशिक्षित अवश्य होती है।—**"हम यह स्वीकार करते हैं कि कला और सौन्दर्य के वास्तविक परिज्ञान के लिए कलाकृतियों या अन्य सुन्दर पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि समग्र अनुभूति के संदर्भ में विचार करने पर सौन्दर्यानुभूति में कोई अभिवृद्धि नहीं होती—या सच्ची सौन्दर्यानुभूति को उसके नक़ली रूपों से पृथक् कर देखने-समझने में कोई लाभ नहीं होता। साधारण मान्यता के विपरीत सत्य यह है कि कला और सौन्दर्य का चिन्तन करने से हमारा कलात्मक जीवन बहुत कुछ समृद्ध हो जाता है।"**[1] सौन्दर्यशास्त्र कला-समीक्षा से भिन्न है, इसमें संदेह नहीं, और यह भी आवश्यक नहीं है कि सौन्दर्यशास्त्र का आचार्य अच्छा सौन्दर्य-पारखी हो—संस्कृत के अनेक आचार्य और इधर आई० ए० रिचर्ड्स इसके प्रमाण हैं, फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि विद्या के अन्य अंगों की भाँति कला-समीक्षा का भी अपना शास्त्र या सिद्धान्त-संहिता हो सकती है और होनी चाहिए। अतः सौन्दर्यशास्त्र की सत्ता एवं सार्थकता का निषेध इस रूप में नहीं किया जा सकता। ये आक्षेप, वास्तव में, सर्जक कलाकार या सहृदय की ओर से किए गए हैं। सर्जक कलाकार या रस-भोक्ता सहृदय कभी शास्त्रकार से समझौता नहीं कर सका। शास्त्र के सिद्धांत और नियम तो उसकी कृति से निसृत होते हैं, फिर शास्त्र उसकी कला का नियमन या रसास्वादन का नियंत्रण कैसे कर सकता है? भारतीय शास्त्रकार के सामने भी यह प्रश्न आया है, पर उसने इसे लेकर कभी वितण्डा खड़ा नहीं किया। वह इसका सुविचारित समाधान प्रस्तुत कर अपने कार्य में प्रवृत्त हो गया है :

१. हण्टर मीड—ऐन इण्ट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स (१९५२), पृ० ४

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।।

(कुंतक—व० जी० १ । ६)

अलंकार-अलंकार्य आदि को अलग-अलग कर उनकी विवेचना काव्य की व्युत्पत्ति का उपाय होने के कारण ही की जाती है। वास्तव में तो अलंकार-युक्त शब्दार्थ ही काव्य है।—इसका भावार्थ यह है कि यद्यपि काव्य का सौन्दर्य अखण्ड तथा अविभाज्य है और उसी रूप में वह आस्वाद्य है, फिर भी शास्त्र-विवेचन की आवश्यकता इसलिए है कि उससे काव्य-सौन्दर्य के परिज्ञान में सहायता मिलती है।

प्रस्तुत प्रश्न का दूसरा पहलू अधिक गंभीर है और वह यह कि काव्य-शास्त्र या अलंकारशास्त्र, कलाशास्त्र, और कुछ विषयों के सन्दर्भ में मनोविज्ञान तथा तत्त्व-मीमांसा आदि से स्वतंत्र सौन्दर्यशास्त्र का क्या अस्तित्व है? वास्तव में मुख्य प्रश्न यही है और पश्चिम में सौन्दर्यशास्त्र के विशेषज्ञों ने तरह-तरह की धारणाएँ व्यक्त कर उसका स्वरूप इतना उलझा दिया है कि अनेक विचारक उसके अस्तित्व पर ही शंका करने लगे हैं। उनका सबसे बड़ा आरोप यह है कि इस विषय का कोई निश्चित केन्द्र-बिन्दु नहीं है: "इस विषय पर इतना अधिक लिखा गया है पर उसमें बहुत कम पढ़ने लायक़ है और यह जानना बड़ा कठिन हो जाता है कि दर असल हो क्या रहा है। इसके विपरीत नीतिशास्त्र में अब तक यह काफ़ी स्पष्ट हो चुका है कि उसकी महत्त्वपूर्ण समस्याएँ क्या हैं, उनका समाधान करने की मुख्य संभावित विधियाँ क्या हैं और इनमें से प्रत्येक विधि का अवलम्बन करने के प्रमुख परिणाम क्या हो सकते हैं। अतः इस विषय में सामान्य मतैक्य हो सकता है कि किसको वास्तव में कुछ कहना है और किसको नहीं; कौन अधिकारी है, कौन नहीं; और साधारणतः कौन-से विषय महत्त्वपूर्ण हैं और क्यों। सौन्दर्यशास्त्र के संदर्भ में यह सही नहीं है। यहाँ इस बारे में कोई मतैक्य नहीं है कि समस्याएँ क्या हैं और उनमें आपस में क्या सम्बन्ध हैं, समाधान क्या हैं और उनके लाभालाभ क्या हैं, और सामान्यतः क्या पढ़ना चाहिए और (इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि) क्या आसानी से छोड़ देना चाहिए। इस भेद के कारण इन दोनों शास्त्रों में एक और अन्तर आ जाता है। नीतिशास्त्र तथा दर्शन के अन्य स्वीकृत विभागों में विवेचन तथा चिंतन का स्तर ऊँचा है और लेखक आत्मालोचन करते हुए जिम्मेदारी के साथ लिखते हैं। लेकिन, सौन्दर्यशास्त्र में तो जैसे सब कुछ चलता है। मूल समस्याओं और दृष्टिबिन्दुओं का कोई निश्चित आधार न होने से कुछ लेखक बिना संकोच या लज्जा के जो मन में आया लिखते रहते

हैं। परिणामतः इनके लेखों में ग़लत दृष्टांत, उलटे-सीधे सिद्धांत-निरूपण और तर्कों के छद्मवेश में रूपक भरे पड़े हैं।"[1]

संक्षेप में, सौन्दर्यशास्त्र के प्रति दार्शनिकों की अवज्ञा का आधार यह मान्यता है कि उसमें विवेचित समस्याओं में इतना कम साम्य रहता है कि उनको लेकर एक पृथक् शास्त्र का विधान नहीं किया जा सकता या यह कि वे दार्शनिक चिंतन के लिए उपयुक्त विषय नहीं हैं। अपनी मान्यता की पुष्टि में वे यह प्रमाण देते हैं कि इसमें किसी प्रकार का क्रम एवं संगति नहीं है और इस पर उपलब्ध सामग्री में अन्विति का अभाव है।[2]

स्पारशॉट स्वयं सौन्दर्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् हैं। उनके इस वक्तव्य का सारांश यह है कि सौन्दर्यशास्त्र का आधार अधिक स्पष्ट नहीं है : यह निश्चित नहीं है कि उसका मूल प्रतिपाद्य और विशिष्ट समस्याएँ क्या हैं।—और, इसका प्रमाण यह है कि उपलब्ध ग्रंथों की विषय-तालिकाओं में काफ़ी अंतर है, जिससे विषय-क्षेत्र का सीमांकन करना कठिन हो जाता है। फिर भी, आज उसकी स्थिति का निषेध नहीं किया जा सकता : कांट, हीगेल, क्रोचे, ह्वाइटहेड आदि मान्य दार्शनिक और इधर अनेक आधुनिक विद्वान् स्वयं स्पारशॉट भी, उसके अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

प्रश्न वास्तव में सौन्दर्यशास्त्र के अस्तित्व अथवा सार्थकता का नहीं है। पश्चिम के लेखकों में बाल की खाल निकालने या साफ़ बात को भी बार-बार मथने की प्रवृत्ति मिलती है। इसलिए मूल प्रश्न के इन गौण पक्षों को लेकर उन्होंने इतना ऊहापोह किया है; जब ढाई हज़ार वर्ष से काव्यशास्त्र और उससे भी पहले से तत्त्वमीमांसा, और इधर कई शताब्दियों से मनोविज्ञान जैसे शास्त्रों की सत्ता तथा सार्थकता मान्य रही है तो सौन्दर्यशास्त्र की सत्ता और सार्थकता को सिद्ध करने के लिए इतना तर्क-वितर्क अपेक्षित नहीं है। प्रश्न का महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि उपर्युक्त अथवा समान समस्याओं का विवेचन करने वाले सीमावर्ती शास्त्रों से स्वतंत्र इसका क्या वैशिष्ट्य है, और क्या यह अंतर इतना अधिक और स्पष्ट है कि उसके आधार पर एक नवीन शास्त्र का विधान किया जाए ? मूल प्रश्न यही है और इसके उत्तर पर ही वास्तविक समाधान निर्भर करता है।

पूर्वापर-क्रम से, सबसे पहले काव्यशास्त्र के संदर्भ में विचार करना उचित होगा। सामान्यतः हम मानकर चल सकते हैं कि काव्य शब्द-अर्थ के माध्यम से सौन्दर्य (=रमणीय अर्थ) की अभिव्यक्ति का नाम है। स्थूल रूप

१, २. स्पारशॉट—स्ट्रक्चर ऑफ़ ऐस्थेटिक्स (१९६३), पृ० ९

से सौन्दर्य के दो पक्ष मान सकते हैं : भाव-पक्ष और रूप-पक्ष। भाव-पक्ष का सम्बन्ध सौन्दर्य की चेतना—अनुभूति या आस्वाद से है, और रूप का सम्बन्ध उसके वस्तु-गुण से है। अत: काव्यशास्त्र में सौन्दर्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति से सम्बद्ध मूल विषयों का सैद्धांतिक विवेचन रहता है। काव्यशास्त्र के भी दो स्पष्ट अंग हैं : सिद्धान्त अर्थात् तत्त्व-चिंतन और प्रविधि या रीति-निरूपण। पहले में काव्य-सौन्दर्य से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों का तत्त्व-विवेचन रहता है और दूसरे में रचना-प्रक्रिया तथा प्रविधि के उपकरणों का। सौन्दर्य-शास्त्र में भी सौन्दर्य से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों का तात्त्विक विवेचन रहता है : अत: काव्यशास्त्र का सिद्धांत पक्ष, जिसमें काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों का तत्त्व-चिंतन रहता है, सौन्दर्यशास्त्र का समवर्ती है; दूसरा जिसका सम्बन्ध रीति-निरूपण से है उसकी परिधि से बाहर है। इस दृष्टि से काव्यशास्त्र की परिधि अधिक व्यापक है। किन्तु माध्यम-उपकरणों की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र की परिधि ही अधिक व्यापक है। काव्यशास्त्र का विवेच्य विषय है काव्य-सौन्दर्य अर्थात् शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त सौन्दर्य, जबकि सौन्दर्यशास्त्र समस्त कलाओं के सौन्दर्य का तत्त्व-विवेचन करता है जिसकी अभिव्यक्ति के, शब्दार्थ के अतिरिक्त, स्वर, रंगरेखा, काष्ठ-प्रस्तर आदि अन्य माध्यम-उपकरण भी हैं। इसके विरोध में यह तर्क दिया जा सकता है कि काव्य समस्त कलाओं का सार-सर्वस्व है, अत: काव्य-सौन्दर्य को समस्त कला-सौन्दर्य का और परिणामत: काव्यशास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र का उपलक्षण माना जा सकता है। परन्तु यह तर्क पर्याप्त नहीं है। माध्यम-उपकरणों के भेद का कम-से-कम सौन्दर्य के वस्तु-गुण—व्यक्त रूप अथवा उसकी अभिव्यंजना पर निश्चय ही प्रभाव पड़ता है; और चूँकि सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य के धारणात्मक रूप के अतिरिक्त उसके अभिव्यंजनात्मक रूप का भी तात्त्विक विवेचन रहता है, इसलिए समस्त कलाओं के सौन्दर्य-चिंतन को काव्य-सौन्दर्य के चिंतन में अंतर्भूत कर देना उचित नहीं होगा। व्यावहारिक दृष्टि से भी यही सत्य है। काव्यशास्त्र में पारंगत सहृदय के लिए संगीतशास्त्र या चित्र-मूर्ति-कला आदि का मर्मज्ञ होना आवश्यक नहीं है। यह ठीक है कि काव्यचिंतन का—उसके रस-अलंकार-विचार का संगीत, चित्र, मूर्ति आदि कलाओं पर व्यापक प्रभाव रहा है, परन्तु यह भी निर्विवाद है कि चित्र तथा संगीत कलाओं के सिद्धान्तों और शैलियों का भी काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्नीसवीं शती से यह परस्पर-प्रभाव तथा अन्योन्याश्रय-संबंध काफ़ी बढ़ता जा रहा है और उसी क्रम से समस्त कलाओं के आधारभूत दर्शन की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है जिसका परिणाम है सौन्दर्यशास्त्र। कहने का अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य-

शास्त्र की अपेक्षा एक दृष्टि से तो काव्यशास्त्र की परिधि अधिक व्यापक है क्योंकि उसमें सौन्दर्य के तत्त्व-चिंतन के अतिरिक्त उसकी प्रविधि अथवा रीति का भी निरूपण रहता है, परन्तु दूसरी दृष्टि से वह संकुचित है क्योंकि वह केवल शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त सौन्दर्य का ही विचार करता है।

सौन्दर्यशास्त्र के सीमावर्ती दो और अनुशासन हैं—तत्त्वमीमांसा और मनोविज्ञान। तत्त्वमीमांसा दर्शन की प्रमुख शाखा है जो सृष्टि के मूल तत्त्व और उसके व्यक्त रूपों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करती है।[१] इसका विकास दो अत्यंत भिन्न मानवीय प्रवृत्तियों—रहस्यवाद और विज्ञान के संयोग और संघर्ष से हुआ है।[२] सामान्यतः आत्मा की शक्तियों और प्रवृत्तियों का तात्त्विक चिंतन ही तत्त्वमीमांसा का विषय है। सौन्दर्य को भी दार्शनिकों ने आत्मा की प्रवृत्ति माना है। भारतीय आचार्यों ने उसका सम्बन्ध आत्मा के प्रेय—आनन्द के साथ माना है और रस अर्थात् काव्य-सौन्दर्य के विवेचन में शैवाद्वैत, वेदांत, सांख्य, न्याय, मीमांसा तथा वैष्णव-भक्ति-सिद्धान्त आदि का प्रचुर उपयोग किया है। उधर पश्चिम में प्लेटो, प्लोटिनस आदि प्राचीन और कांट, हीगेल, क्रोचे, बोसांके, आदि नवीन दार्शनिकों ने मनोयोगपूर्वक सौन्दर्य का तत्त्व- निरूपण किया है। अतएव, सौन्दर्य-चिंतन में तत्त्वमीमांसा का बहुत कुछ योगदान रहा है, इसमें संदेह नहीं। लेकिन फिर भी तत्त्वमीमांसा और सौन्दर्यशास्त्र का विषय-क्षेत्र एक नहीं है। तत्त्वमीमांसा का प्रतिपाद्य है सत्य, अथवा और निश्चित शब्दावली में, सत्य का वह रूप जो भौतिक जगत् से परे है। सत्य का स्वरूप सर्वव्यापक है : अतः तत्त्वमीमांसा की विषय-परिधि में जीवन और जगत् के समस्त रूपों का धारणात्मक चिंतन रहता है—सौन्दर्य-शास्त्र उसका केवल एक पहलू है। उधर, सौन्दर्य का भी अपना वैशिष्ट्य है—वह मूलतः ऐन्द्रिय संवेदना का विषय है : उसकी चेतना धारणात्मक नहीं होती। सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य के स्वरूप और चेतना का तत्त्वचिंतन रहता है—यह चिंतन निश्चय ही धारणात्मक होता है और इसमें तत्त्वमीमांसा की ही पद्धति का अवलम्बन रहता है। परन्तु विषय की आनन्दमयी प्रकृति के अनुरूप उसमें एक विशेष प्रकार की सर्जनात्मक सरसता का समावेश हो जाता है जो अमूर्त तत्त्वचिंतन से कुछ-न-कुछ भिन्न अवश्य होता है। निष्कर्ष यह है कि १. तत्त्वमीमांसा का विषय-क्षेत्र अधिक व्यापक है—उसमें सत्य के समग्र रूप का विचार रहता है और २. वह शुद्ध प्रमा या बुद्धि का विषय है अतः उसका सम्पूर्ण व्यापार अमूर्त धारणाओं के माध्यम से चलता

१. वेब्स्टर्स थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी
२. वही, रग्पेल का उद्धरण

है; उसकी अपेक्षा १. सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र अत्यंत संकुचित है, २. उसका प्रतिपाद्य प्रमा का विषय न होकर सहजानुभूति का विषय है, अतः चिंतन-व्यापार में प्रमा के अतिरिक्त सहजानुभूति का भी योग होने से उसकी धारणाएँ अपेक्षाकृत मूर्त तथा इन्द्रिय-संवेद्य होती हैं।

मनोविज्ञान के साथ भी सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध प्रायः इसी प्रकार का है। मनोविज्ञान मन की क्रिया-प्रक्रिया का वैज्ञानिक विवेचन करता है। उसमें मानव-चेतना की प्रक्रियाओं, उनके विषयों और परिस्थितियों का विश्लेषण रहता है।[1] उसकी विषय-परिधि में एक प्रकार से समस्त अनुभव-जगत् आ जाता है जिसका वह प्रमाता के संदर्भ में विचार करता है।[2] इस प्रकार मानस-बोध और संवेदन के माध्यम से जो भी हम अनुभव करते हैं वह सब मनोविज्ञान का विषय है।[3] तत्त्वमीमांसा में जहाँ विज्ञान के साथ रहस्यवाद का योग रहता है, वहाँ मनोविज्ञान का स्तर सर्वथा ऐहिक है और इस दृष्टि से उसमें विज्ञान का अंश ही प्रमुख है। सौन्दर्य की चेतना, उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में सक्रिय मन की शक्तियों, उसमें निहित मन की क्रिया-प्रक्रिया और उससे उपलब्ध मूल्यों का विवेचन मनोविज्ञान का विषय है, इसमें संदेह नहीं। इसी आधार पर फ़ैख़्नर आदि के योगदान के फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र का विकास हुआ है जिसे कांट, हीगेल आदि के अतीन्द्रिय अथवा पारलौकिक सौन्दर्यशास्त्र से भिन्न पार्थिव सौन्दर्यशास्त्र की संज्ञा दी गयी है। फिर भी मनोविज्ञान की परिधि तो कहीं अधिक व्यापक है: सौन्दर्य-चेतना मन की एक प्रवृत्ति मात्र है और वह भी मौलिक नहीं है। चेतन और अवचेतन मन की वृत्तियों और उनसे उत्पन्न असंख्य विकारों का वैज्ञानिक विवेचन मनोविज्ञान का विषय है—उसकी एक सीमा जीवविज्ञान का स्पर्श करती है और दूसरी शरीरविज्ञान का। इस प्रकार, मनोविज्ञान अत्यन्त व्यापक विषय है जिस का सम्बन्ध मानव-मन की मौलिक और अनगढ़ प्रवृत्तियों से ही अधिक है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और उसका सम्बन्ध मन की एक अत्यन्त गौण किन्तु सर्वाधिक परिष्कृत प्रवृत्ति—सौन्दर्य—के साथ है—अर्थात् मनोविज्ञान की तुलना में सौन्दर्यशास्त्र अत्यन्त सीमित किन्तु अत्यधिक परिष्कृत अनुशासन है। अब एक अनुशासन शेष रह जाता है—कलाशास्त्र। इस संदर्भ में पहली प्रतिक्रिया तो यही होती है कि सौन्दर्य की परिधि केवल कला तक ही सीमित नहीं है; परन्तु यह निर्णय कर लेने के बाद के सौन्दर्यशास्त्र का विषय कला-सौन्दर्य ही है—प्राकृतिक सौन्दर्य नहीं, अब यह विकल्प नहीं रह जाता। कला से अभिप्राय यहाँ ललित कलाओं अर्थात् काव्य, संगीत, (नृत्य) चित्र,

१, २, ३. वेब्स्टर्स थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी—२ वुण्ट और बैनेके

मूर्ति और वास्तु कलाओं से है जो सभी प्रकार के प्रयोजनों से मुक्त अपने में स्वतन्त्र होती हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि ऐसा कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है जिनमें इन सभी का संयुक्त विवेचन हो : काव्यशास्त्र है, संगीतशास्त्र है, चित्रकला का अपना पृथक् शास्त्र है और उधर वास्तुशास्त्र है, परन्तु इन सभी के मूल सिद्धान्तों का संयुक्त विवेचन करने वाला कोई शास्त्र नहीं है। इसी अभाव की पूर्ति के लिए तो सौन्दर्यशास्त्र की परिकल्पना की गयी है। कलाशास्त्र में, काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र और वास्तुशास्त्र आदि की भाँति कलाओं के रीतिपक्ष का निरूपण भी हो सकता है, किन्तु सौन्दर्यशास्त्र में उसके लिए स्थान नहीं है—उसका विषय तो विभिन्न ललित कलाओं में निहित मूल सौन्दर्य के स्वरूप और उससे सम्बद्ध तात्त्विक समस्याओं का विवेचन ही हो सकता है। कला और सौन्दर्य में सूक्ष्म भेद यह है कि कला शब्द जहाँ अमूर्त प्रकल्पना के साथ-साथ मूर्त वस्तु का भी वाचक है, वहाँ सौन्दर्य शब्द से प्रकल्पना का ही बोध होता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत संदर्भ में अभीष्ट अर्थ का वहन करने के लिए कलाशास्त्र की अपेक्षा सौन्दर्यशास्त्र शब्द ही अधिक उपयुक्त है—क्योंकि कलाशास्त्र में जहाँ काव्यशास्त्र-संगीतशास्त्र आदि की परम्परा के अनुसार कलाओं के रीतिपक्ष का भी अन्तर्भाव होना चाहिए, वहाँ सौन्दर्यशास्त्र केवल सिद्धान्त-पक्ष का ही तत्त्व-विवेचन करता है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है :

१. सौन्दर्यशास्त्र को काव्यशास्त्र, तत्त्वमीमांसा या मनोविज्ञान का पर्याय नहीं माना जा सकता।

२. काव्यशास्त्र का एक अंग जिसका सम्बन्ध रीतिनिरूपण से है सौन्दर्य-शास्त्र की परिधि में नहीं आता, दूसरे अंग को जिसमें मूल सिद्धान्तों का विवेचन रहता है, सौन्दर्यशास्त्र की एक शाखा ही माना जा सकता है क्योंकि उसकी सीमित परिधि केवल काव्य-सौन्दर्य अर्थात् शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त सौन्दर्य तक ही है।

३. तत्त्वमीमांसा और मनोविज्ञान सौन्दर्यशास्त्र के साधनभूत अनुशासन हैं—इस अर्थ में कि वह उनकी विशेष पद्धतियों का उपयोग अपने प्रतिपाद्य विषय के स्वरूप, अनुभूति, अभिव्यक्ति आदि के विवेचन में करता है।

४. कलाशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र के अत्यन्त निकट है क्योंकि सौन्दर्यशास्त्र की विषय-परिधि में भी ललित कलाओं के सौन्दर्य का ही विवेचन आता है, प्राकृतिक सौन्दर्य का नहीं। फिर भी, दोनों का ऐकात्म्य नहीं हो सकता क्योंकि एक तो विभिन्न ललित कलाओं का संयुक्त विवेचन करने वाला कोई पृथक् कलाशास्त्र है नहीं और यदि इस प्रकार की कल्पना कर भी ली जाए, तो रीतिपक्ष का भी

अंतर्भाव होने के कारण, उसकी परिधि कला-सौन्दर्य के सैद्धान्तिक विवेचन तक सीमित सौन्दर्यशास्त्र से अधिक व्यापक होगी।

इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है जिसे स्वीकार कर लेने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

सौन्दर्यशास्त्र के अंग : विवेच्य विषय और मूल समस्याएँ

प्रस्तुत विषय पर विचार करने के लिए सौन्दर्यशास्त्र पर उपलब्ध कुछ प्रामाणिक ग्रंथों की विषय-तालिका का विश्लेषण करना आवश्यक होगा।

जॉर्ज **सेण्टायना** की पुस्तक 'दि सेन्स ऑफ़ ब्यूटी'—१८९६—(सौन्दर्य-चेतना) प्रस्तुत विषय की आधारभूत कृतियों में से है। उन्होंने अपने प्रतिपाद्य को चार भागों में विभक्त किया है—१ सौन्दर्य का स्वरूप, २. सौन्दर्य के उपकरण, ३. रूप, और ४. अभिव्यंजना। इसके बाद मीड के अत्यन्त सुपाठ्य ग्रंथ—'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स (सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका—१९५२) को लेना अधिक उपयोगी होगा। मीड के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र की केन्द्रीय समस्या है : सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप क्या है ? इसके साथ दो प्रश्न संलग्न हैं : १. सौन्दर्यानुभूति का मूल्य या अर्थ क्या है ? और २. मानव-जीवन की अन्य अनुभूतियों के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? इस प्रकार (i) सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप, (ii) सार्थकता या मूल्य, और (iii) अन्य अनुभूतियों के साथ उसका सम्बन्ध, इन तीन प्रश्नों की समष्टि सौन्दर्य-चिन्तन का मेरुदण्ड है। पूर्वयुग में दूसरे और तीसरे प्रश्न—अर्थात् मूल्य और जीवनगत सम्बन्धों का विचार मुख्य था, परन्तु १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पहले प्रश्न अर्थात् सौन्दर्य के स्वरूप-विवेचन का महत्त्व बढ़ गया है। मीड ने सौन्दर्यशास्त्र की समस्याओं को दो वर्गों में विभक्त किया है : मुख्य और गौण। उपर्युक्त तीन प्रश्न मुख्य हैं; गौण समस्याओं के अन्तर्गत सौन्दर्य-मूल्य के भेदों, आधार-स्रोतों और कला-विषयक सिद्धान्तों का विवेचन आता है। ग्रंथ की विषय-तालिका इस प्रकार है :

भाग एक **सौन्दर्यानुभूति**	१. सौन्दर्य की समस्या २. सौन्दर्य-दृष्टि ३. सौन्दर्यानुभूति ४. सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध ५. सौन्दर्य की परिधि।
भाग दो **सौन्दर्य-मूल्य**	६. सौन्दर्य-मूल्य के प्रकार—भौतिक, रूपात्मक और साहचर्य मूलक ७. सौन्दर्य-मूल्यों के आधार-स्रोत ८. सौन्दर्य-मूल्यों का महत्त्व।

९. कला प्रतिरूपण है १०. कला भावाभिव्यक्ति है ११. कला रूपात्मक अभिकल्प (रूप-रचना) है १२. कला सामाजिक मूल्यांकन और प्रभाव का माध्यम है १३. कला सौन्दर्य-मूल्यों का समाकलन है।

इस प्रकार के दो अन्य लोकप्रिय ग्रंथ हैं ई० एफ़० कैरिट के—१. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स (सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका) और २. दि थिअरी ऑफ़ ब्यूटी (सौन्दर्य-सिद्धान्त)। इनकी विषय-तालिकाएँ निम्नांकित हैं :

ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स (प्रथम संस्करण) (सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका) : १. सौन्दर्यशास्त्र का विषय २. सुरुचि और कुरुचि ३. सौन्दर्य से क्या तात्पर्य है ? ४. रूपात्मक और प्रतिरूपात्मक कला ५. सौन्दर्य के प्रकार ६. अभिव्यंजना ७. मनोवेग ८. उपदेशात्मक और प्रबोधात्मक कला ९. आलोचना के कर्त्तव्य-कर्म १०. सौन्दर्यात्मक अभिव्यंजनाओं की उत्पत्ति ११. कला, सहानुभूति और कल्पना १२-१३. आत्म-समीक्षा १४. आभिजात्यवादी और स्वच्छन्दतावादी आलोचना १५. काव्य-रूप और काव्य-वस्तु १६. उपसंहार।

दि थिअरी ऑफ़ ब्यूटी (१९४८) (सौन्दर्य-सिद्धान्त) : १. सौन्दर्यशास्त्र का विषय २. सौन्दर्यशास्त्र की पद्धति—(क) सौन्दर्य-सिद्धान्त-विषयक मिथ्या धारणाएँ (ख) प्रकृति का बहिष्कार और तज्जन्य भ्रांतियाँ ३. आनन्दवादी—नैतिक सिद्धान्त ४. यथार्थवादी—प्ररूपात्मक सिद्धान्त ५. बुद्धिवादी सिद्धांत ६. भाववादी सिद्धान्त ७. बुद्धिवादी सिद्धान्त ८. अभिव्यंजनावादी सिद्धांत (क) अभिव्यंजना (ख) प्रकार (ग) विषय ९. उदात्त तत्त्व १०. रूपात्मक और अभिव्यंजनात्मक सौन्दर्य ११. समानुभूति पर आश्रित सिद्धान्त १२. उपसंहार।

इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र के कुछ अन्य लेखक और उनके ग्रन्थ हैं : ऐफ़० ई० स्पारशॉट : दि स्ट्रक्चर ऑफ़ ऐस्थेटिक्स, विवास और क्रीगर : दि प्रॉब्लम्स ऑफ़ ऐस्थेटिक्स, डीविट ऐच० पार्कर : दि प्रिंसिपिल्स ऑफ़ ऐस्थेटिक्स, सी० के० ओग्डन और आई० ए० रिचर्ड्स : दि फ़ाउण्डेशन्स ऑफ़ ऐस्थेटिक्स। इनमें कुछ-एक ग्रन्थों के विवेच्य विषयों पर दृष्टिपात करना भी उपयोगी हो सकता है।

(स्पारशॉट : दि स्ट्रक्चर ऑफ़ ऐस्थेटिक्स (१९६३) **(सौन्दर्यशास्त्र की संरचना)** : १. सौन्दर्यशास्त्र : क्या और क्यों ? (—अर्थात् सौन्दर्यशास्त्र की सत्ता और सार्थकता) २. सौन्दर्यशास्त्र के प्रति दृष्टिकोण ३. सौन्दर्य : शब्द और उसके सम्बन्ध (उससे सम्बद्ध धारणाएँ) ४. कला और प्रकृति ५. कला : धारणा और उसकी सार्थकता ६. कला : श्रेणियाँ और प्रकार ७. कला पद्धतियाँ और वर्ग ८. क्या कला का प्रयोजन होता है ? ९. कला और

व्यक्ति १०. कला और समाज ११. कला का विश्लेषण १२. कला का तल और रूप १३. रूप और विषयवस्तु १४. संकेत १५. संकेतों के विषय १६. अभिव्यंजना १७. उपसंहार ।

(मुनरो सी० बिअर्ड्स्ले : ऐस्थेटिक्स (१९५८) (सौन्दर्यशास्त्र) : बिअर्ड्स्ले ने अपने ग्रन्थ का उपशीर्षक दिया है : आलोचना-दर्शन की समस्याएँ; अर्थात् उनके मत से सौन्दर्यशास्त्र वस्तुत: आलोचना-दर्शन का ही पर्याय है। उन्होंने निम्नोक्त विषयों का विवेचन किया है—

१. सौन्दर्य-चिंतन के विषय—कलाकार का उद्देश्य, ऐन्द्रिय और भौतिक विषय, प्रतीयमान विषय, विषय और निरूपण, आलोचनात्मक वक्तव्यों की परिधि २. आलोचनात्मक विश्लेषण के विविध रूप—अंग और अंगी, चाक्षुष अभिकल्प (चित्र) का विश्लेषण, सांगीतिक रचना का विश्लेषण ३. साहित्य—साहित्य की भाषा, व्याख्या का तार्किक आधार ४. कला का रूप—चाक्षुष अभिकल्प (चित्र) में संरचना और विन्यास, संगीत में संरचना और स्वर-विन्यास, अन्विति और सम्बद्ध धारणाएँ ५. साहित्यगत रूप—शैली : आर्थी और शाब्दी, साहित्यिक संरचना ६. चाक्षुष कलाओं में प्रतिरूपण—प्रतिरूपण (मूर्त्तन) और अमूर्त्तन व्यापार, अभिकल्प का विषयवस्तु के साथ सम्बन्ध ७. संगीत का अर्थ—अभिव्यंजना और अर्थ-संकेत, संगीत का शब्दों के साथ सम्बन्ध ८. कला का सत्य—विचारमूलक सिद्धांत, अभिव्यक्ति और सहजानुभूति ९. साहित्य और ज्ञान—साहित्य का आख्यान, विश्वास और उससे उत्पन्न समस्याएँ १०. आलोचनात्मक मूल्यांकन—युक्तियाँ और निर्णय, आलोचनात्मक वक्तव्य का स्वरूप ११. सौन्दर्य-मूल्य—सौन्दर्य-सिद्धांत, मनोवैज्ञानिक परि-भाषाएँ, करणत्व (उपयोगिता) सिद्धांत १२. कलाओं का मानव-जीवन में स्थान—नैतिक और आलोचनात्मक (शास्त्रीय) निर्णय, कलाओं के अंतर्निष्ठ मूल्य ।

इधर मेल्विन रेडर ने सौन्दर्यशास्त्र पर कुछ प्रामाणिक लेखों का संच-यन प्रकाशित किया है। भूमिका में कला का अर्थ स्पष्ट करने के बाद उन्होंने विषय का तीन भागों में विभाजन किया है : १. कला और उसकी सर्जन-प्रक्रिया २. कला-कृति ३. कला का आस्वादन और विवेचन । पहले भाग में उन्होंने कला-सर्जना से सम्बद्ध मूल सिद्धांतों का विवेचन किया है—यथा आभास या सादृश्य सिद्धांत, सौन्दर्य सिद्धांत, भावाभिव्यक्ति सिद्धांत, सहजानुभूति सिद्धांत, इच्छापूर्ति सिद्धांत, स्पष्ट अनुभूति सिद्धांत। दूसरे में कला-कृति का विवेचन है : कला-कृति की शरीर-संघटना, अभिव्यंजना-क्षमता, रूपाकृति, रूपाकृति और प्रयोजन । तीसरे भाग के अंतर्गत कला के आस्वादन और समीक्षा के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन है : समानुभूति और अमूर्तन, दूरी और अमानवीकरण, पृथक्करण,

और समाकलन, कला-समीक्षा के आधार-तत्त्व ।

—(ए मॉडर्न बुक ऑफ़ ऐस्थेटिक्स, १९६५)

हीगेल, कॉलिंगवुड, आर्थर होवेल, टॉमस मुनरो आदि अनेक लेखकों ने सौन्दर्यशास्त्र शब्द का प्रयोग न कर सीधे कला का ही तत्त्व-विवेचन किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल इस दिशा में अग्रणी हैं। उनका प्रामाणिक ग्रन्थ है 'दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ फ़ाइन आर्ट' (१९२०) (ललित-कला-दर्शन) जिसमें उन्होंने मुख्यतया निम्नोक्त विषयों का चिंतन किया है :—

१. सौन्दर्यशास्त्र की परिधि और ललित कला-दर्शन के विरुद्ध आक्षेपों का खण्डन, २. सौन्दर्य और कला के उपयुक्त वैज्ञानिक पद्धतियाँ, ३. कला-सौन्दर्य की धारणा, ४. कला की सच्ची धारणा का ऐतिहासिक विकास, ५. विषय-विभाजन, कला-सौन्दर्य का तत्त्व या तात्त्विक सौन्दर्य, ६. सौन्दर्य-विषयक सामान्य धारणा, ७. प्रकृति का सौन्दर्य, ८. कला-सौन्दर्य या भावनात्मक सौन्दर्य (क) भावनात्मक सौन्दर्य का स्वरूप (ख) भावनात्मक सौन्दर्य का मूर्त रूप (ग) कलाकार (i) कल्पना, प्रतिभा और अंत:प्रेरणा (ii) कलात्मक निरूपण का वस्तुगत स्वरूप (iii) रीति, शैली और मौलिकता।

आर्थर होवेल का ग्रन्थ 'दि मीनिंग ऐण्ड पर्पज़ ऑफ़ आर्ट' (१९५७) (कला का अर्थ और प्रयोजन) भी काफ़ी लोकप्रिय है। इसमें चार खण्ड हैं : १. कला का अनुभव, २. कलाकार का दृष्टिकोण, ३. कला-कृति, ४. आधुनिक कला।

वर्तमान युग के विचारकों में टॉमस मुनरो ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। उनका एक ग्रन्थ है—दि आर्ट्स ऐण्ड दिअर इंटररिलेशन्स (१९५०) (कलाएँ और उनके अंत:सम्बन्ध)। ग्रन्थ की विषय-तालिका इस प्रकार है : **भाग एक**—कलाओं का स्वरूप :—१. कलाओं के विषय में स्वच्छ चिंतन की आवश्यकता, २. ललित कलाओं की परिकल्पना : ऐतिहासिक परम्परा, ३. कला के विविध अर्थ ४. कला के विविध प्रकार। **भाग दो**—कलाओं के परस्पर संबंध—५. कलाओं का दार्शनिक वर्गीकरण ६. कलाओं का व्यावहारिक वर्गीकरण ७. मूर्त उपकरण अथवा माध्यम की दृष्टि से कलाओं की तुलना ८. प्रक्रिया या प्रविधि की दृष्टि से कलाओं की तुलना ९. अन्त:स्वरूप और रूप-रचना की दृष्टि से कलाओं की तुलना। **भाग तीन**—प्रत्येक कला की निजी विशेषताएँ :—१०. कलाओं की परिभाषा किस प्रकार की जा सकती है ११. आज और कल के जीवन में महत्त्वपूर्ण कलाएँ—इसके अन्तर्गत साहित्य और संगीत आदि मान्य ललित कलाओं के साथ ही बाग़बानी, नगर-निर्माण, चलचित्र, व्यंग्यचित्र, रेडियो-टेलिविज़न और आतिशबाज़ी तक का उल्लेख है। १२. सार-संक्षेप।

विषय-निर्धारण को प्रामाणिक रूप देने के लिए हमने विभिन्न वर्गों के विचारकों का मत-संग्रह किया है। इनमें एक ओर हीगेल और सेंटायना जैसे दार्शनिक हैं जो सौन्दर्यशास्त्र के आरम्भिक लेखकों में हैं और दूसरी ओर टॉमस मुनरो तथा मेल्विन रेडर जैसे आधुनिक लेखक भी; स्पारशॉट और बिअर्ड्स्ले आदि विषय-विशेषज्ञ हैं और कैरिट तथा मीड जैसे पाठ्यग्रन्थ-लेखक भी। इन सबकी विषय-तालिकाओं का तुलनात्मक एवं समाकलित अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ प्रसंग-भेद होने पर भी उनमें काफ़ी समानताएँ हैं— और इन्हीं को आधार बनाकर सौन्दर्यशास्त्र के विवेच्य विषयों और मूल समस्याओं का निर्धारण किया जा सकता है। वास्तव में सौन्दर्यशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु है सौन्दर्य जिसके चार कोण हैं—१. सहृदय अथवा सामाजिक २. कला-कृति ३. कर्ता या कलाकार ४. तत्त्वविवेचक या समीक्षक। विषय की मूल समस्याएँ इन्हीं चार कोणों से सम्बद्ध हैं।

१. सौन्दर्य का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप, सौन्दर्य और कला—कला का विवेचन } (मूल विषय)

२. सौन्दर्य की अनुभूति अथवा आस्वाद: प्रक्रिया और स्वरूप } (सहृदय पक्ष)

३. सौन्दर्य का प्रतिफलित रूप—कलाकृति का वस्तु-रूप, विभिन्न कलाओं का विवेचन।
४. सौन्दर्य के उपादान } (कलाकृति पक्ष)

५. सौन्दर्य की सर्जना, प्रेरणा, सर्जक-प्रतिभा, सर्जन-प्रक्रिया } (कलाकार पक्ष)

६. सौन्दर्य-मूल्यों का निर्धारण
७. सौन्दर्य का अन्य जीवन-मूल्यों के साथ संबंध
८. सौन्दर्य- (कला)-सृष्टि-विषयक सिद्धांत } तत्त्व-विवेचक अथवा समीक्षक पक्ष

□ □

अध्याय : दो

सौन्दर्य की परिभाषा और स्वरूप

पाश्चात्य अवधारणा

सौन्दर्य शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में अंग्रेज़ी शब्द ब्यूटी का पर्याय है। ब्यूटी की एक व्युत्पत्ति इस प्रकार है : बो (beau) + टी। बो का अर्थ है प्रिय अथवा रसिक या शृंगारी पुरुष और टी भाववाचक प्रत्यय है : इस प्रकार ब्यूटी का शब्दार्थ हुआ रसिक का भाव या रसिकता अथवा शृंगारी पुरुष का गुण। फ़्रांसीसी भाषा में इसका समानार्थक शब्द है बैल्, लातीनी में पुलक्रुम, यूनानी भाषा में कलोस और रूसी में क्रसोता। बैल् का अर्थ है सुन्दरी, पुलक्रुम प्रीतिकर का वाचक है और यूनानी भाषा का कलोस भी सामान्यतः सुन्दर के ही निकट है। रूसी शब्द क्रसोता का वाच्यार्थ है सुदर्शन अर्थात् देखने में सुन्दर यद्यपि लक्षणा से यह व्यापक अर्थ का वाचक भी हो जाता है। इनमें से कुछ शब्दों में लालित्य तत्त्व का प्राधान्य है और कुछ में रूप या चाक्षुष सौन्दर्य का। कलोस की अर्थ-परिधि अधिक व्यापक है—उसमें सद्गुण का भाव भी निहित है—इस प्रकार सौन्दर्य में रूपाकर्षण, लालित्य और व्यापक अर्थ में प्रेयस् तत्त्व का अन्तर्भाव मिलता है।

पाश्चात्य वाङ्मय में सौन्दर्य-तत्त्व का व्याख्यान-विवेचन आरम्भ से ही होता आया है और यह परम्परा निरन्तर चल रही है। प्लेटो ने काफ़ी विस्तार से अनेक ग्रंथों में सौन्दर्य के विषय में विचार किया है। अपने एक ग्रंथ 'हिप्पिअस मेजर' के संवादों में वे सुकरात के मन्तव्य से विषय का विवेचन आरम्भ करते हैं। सुकरात सौन्दर्य के विषय में तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं :

(१) सौन्दर्य का अर्थ है कृतित्व की सफलता, (२) सौन्दर्य श्रेयस् का पर्याय है, (३) सौन्दर्य का लक्षण है प्रीति (आह्लाद) जो नेत्र और श्रवण के माध्यम से प्रीतिकर हो वही सुन्दर है। ये तीनों धारणाएँ सीमित एवं सदोष हैं और सुकरात इन्हें स्वीकार नहीं करते। इनका खण्डन करने के बाद परिसंवाद के अन्त में प्लेटो ने सौन्दर्य का अत्यन्त मनोयोग के साथ, सशक्त शब्दावली में व्याख्यान किया है। प्लेटो के अनुसार सौन्दर्य सृष्टि का मूल तत्त्व है और इसका संधान करना ही तत्त्वद्रष्टा का चरम लक्ष्य है। वह सत् का पर्याय है और श्रेयस् से अभिन्न है। सौन्दर्य और प्रेम एक ही तत्त्व के दो वास्तविक पक्ष हैं। सौन्दर्य की कई कोटियाँ और स्तर हैं। पहला स्तर है सार्वभौम भौतिक सौन्दर्य—सौन्दर्य की सत्ता व्यक्तिगत न होकर सार्वभौम होती है अर्थात् व्यक्ति का सौन्दर्य विश्व-सौन्दर्य का ही अंग होता है। दूसरा स्तर है चेतना का सौन्दर्य : सौंदर्य केवल शरीर का ही गुण नहीं है—शरीर-सौन्दर्य के ऊपर चेतना के सौन्दर्य की सत्ता है। इससे ऊपर है नियम और मर्यादा का सौन्दर्य अर्थात् नैतिक सौन्दर्य और सबसे ऊपर है ज्ञान-विज्ञान का सौन्दर्य। इस प्रकार सौन्दर्य के चार स्तर हैं : शारीरिक सौन्दर्य, मानसिक सौन्दर्य, नैतिक सौन्दर्य और शुद्ध बुद्धि का सौन्दर्य अथवा प्रज्ञात्मक सौन्दर्य। प्रज्ञात्मक सौन्दर्य ही निरपेक्ष और चरम सौन्दर्य है। सौन्दर्य का आधार है समन्विति अथवा सामञ्जस्य जो विश्वप्रपंच का मूल सिद्धान्त है। यह सामञ्जस्य ही औचित्य है जो समानुपात और सममात्रा पर निर्भर करता है। इस प्रज्ञात्मक सौन्दर्य को प्लेटो ने प्रकाश-रूप माना है जो वस्तुतः आत्मचैतन्य का प्रतीक है।[1]

प्लेटो का उपर्युक्त मन्तव्य आत्मवादी सौन्दर्य-चिन्तन का प्रस्थान-बिन्दु है। इस वर्ग के दार्शनिकों में प्रमुख हैं प्राचीनों में—प्लोटिनस, और मसीही सन्त ऑगस्टीन तथा ऐक्विनस और आधुनिकों में कांट व हीगेल आदि। प्लोटिनस के अनुसार—जो हमारे अनुराग का विषय है, अन्ततः वही सुन्दर है। मानव-आत्मा अपने मूल उद्गम—उस परम तत्त्व से मिलने के लिए व्यग्र रहती है जो शिव और सुन्दर का आधार-स्रोत है। उस परम सुन्दर के साथ तादात्म्य की यही अभिलाषा सौन्दर्य-चेतना का रहस्य है। अर्थात् सौन्दर्य की भावना मूलतः एक आध्यात्मिक अनुभूति या रहस्यानुभूति है। मूर्ति अथवा वास्तु कला का सौन्दर्य उसके मूर्त आधार में न होकर कलाकार की चेतना में सक्रिय मूल विचार या भावना में ही रहता है। मसीही सन्तों ने इस रहस्य-भावना को और भी स्पष्ट कर दिया है। सन्त ऑगस्टीन और ऐक्विनस ने सौन्दर्य को

१. गिलबर्ट ऐंड कून : ए हिस्टरी ऑफ़ ऐस्थेटिक्स (द्वितीय संस्करण), पृ० ४५-५५; १२९-३०

ईश्वरीय तत्त्व माना है। उनका मत है कि ईश्वर शुद्ध और चरम सौन्दर्य का प्रतीक है। विश्व का सौन्दर्य उसी का आभास है : अत: सौन्दर्य मूलत: अपार्थिव ही होता है। रूप और आलोक उसके मूल तत्त्व हैं—वह आलोकमय रूप अथवा रूपायित आलोक है और यह आलोक स्रष्टा के तेज का ही प्रतिरूप है जो सृष्टि के विधान में क्रम, अन्विति और अनुपात आदि गुणों का सन्निवेश करता है। इसी आधार पर ऑगस्टीन ने सौन्दर्य को रंग के आकर्षण से युक्त अंगों का समानुपात कहा है और ऐक्विनस ने उसके तीन तत्त्व माने हैं—अखण्डता, समानुपात श्रौर दीप्ति।[1]

आधुनिक युग में कांट और हीगेल ने प्राय: इन्हीं मूल सूत्रों का पल्लवन किया है—कांट ने नवीन तर्कशास्त्र के आलोक में और हीगेल ने विज्ञान के आधार पर। कांट ने सौन्दर्य के दो रूप माने हैं : १. शुद्ध या निरपेक्ष सौन्दर्य और २. सापेक्ष सौन्दर्य। शुद्ध सौन्दर्य रूपगत सामंजस्य पर निर्भर करता है : वह अपना प्रयोजन आप है—अर्थात् प्रमाता किसी उद्देश्य से उसका भावन अथवा आस्वादन नहीं करता। सापेक्ष सौन्दर्य के पीछे कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य रहता है? जीवन के प्रति उसकी सार्थकता में ही उसका मूल्य निहित है। अपने उत्कृष्ट रूप में वह प्रत्ययात्मक अथवा नैतिक होता है। अपने तत्त्व रूप में वह सत्य अथवा शिव का प्रतिरूप है। हीगेल ने इस विचार को और स्पष्ट करते हुए सौन्दर्य को दिव्य चेतना की गोचर अभिव्यक्ति या ऐन्द्रिय प्रतीति माना है। यह दिव्य चेतना परम सत्ता का ही प्रतिरूप है जो सम्पूर्ण सृष्टि की प्रेरक शक्ति है। इसी की गोचर अथवा ऐन्द्रिय रूप में प्रस्तुति कला है। कला में प्रकृति की अपेक्षा आत्मतत्त्व प्रधान होता है, अत: सौन्दर्य वस्तुत: कला का ही धर्म है।—प्रकृति सौन्दर्य का सोपान है परिणति नहीं है, अर्थात् उसमें सौन्दर्य का पूर्ण रूप नहीं मिलता। प्रमाता प्रकृति के दर्शन से सौन्दर्य की ओर अग्रसर होता है, परन्तु उसे सिद्ध नहीं कर पाता—सौन्दर्य की सिद्धि कला में ही है। प्राकृतिक रूपों में जो सामंजस्य अथवा उसके विभिन्न तत्त्व—अनुक्रम, अनुपात, सममिति आदि दृष्टिगत होते हैं वे सौन्दर्य की ओर संकेत करते हैं : बाह्य पदार्थों का गोचर सामंजस्य आंतरिक सामंजस्य अथवा भावनागत सामंजस्य का प्रतिबिम्ब मात्र है। आन्तरिक रूप या चित् रूप ही वास्तविक रूप है, वही सौन्दर्य है।

हीगेल की उक्त परिभाषा सौन्दर्य की आत्मवादी व्याख्या की परिणति है।

१. गिल्बर्ट ऐंड कून्न : ए हिस्टरी ग्रॉफ़ ऐस्थेटिक्स (द्वितीय संस्करण), पृ० ४५-५५; १२९-३०

वस्तुवादी व्याख्या

विचारकों का एक अन्य वर्ग सौन्दर्य की वस्तुगत या रूपगत सत्ता का प्रतिपादन करता है। इनके अनुसार सौन्दर्य वस्तु का गुण है और वह रूप-आकार में निहित रहता है। आत्मवादी सौन्दर्यशास्त्र का ध्येय है सौन्दर्य अथवा कला के आध्यात्मिक अर्थ की व्याख्या। आत्मवादी के लिए सौन्दर्य परम सत्ता अथवा सृष्टिविधान की पारमार्थिक एकता या समन्विति का प्रतीक है। रूपवादी इसका निषेध करता है। १९वीं शती के पूर्वार्ध में हरबर्ट नामक दार्शनिक ने दृढ़ता के साथ घोषणा की : सौन्दर्य अपने अतिरिक्त किसी अपर तत्त्व का प्रतीक नहीं है—अपने रूप के अतिरिक्त उसका कोई अर्थ नहीं है।[1] वस्तु के रूप-आकार की रचना अनुक्रम, अनुपात, सममिति, समन्विति, वर्ण-योजना दीप्ति आदि तत्त्वों से होती है—ये ही सौन्दर्य के तत्त्व हैं। इन तत्त्वों की सत्ता आत्मवादियों को भी मान्य रही है—ऐक्विनस ने तो स्पष्ट शब्दों में इनका उल्लेख किया ही है और कांट तथा हीगेल ने भी समन्विति को ही सौन्दर्य का आधार माना है। परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भेद है : आत्मवादी इनको पारमार्थिक सत्ता के प्रतीक मानता है जबकि रूपवादी इन्हें पार्थिव एवं वस्तु-निष्ठ मानता है—उसके मत से ये सौन्दर्य के आधार-तत्त्व हैं, सौन्दर्य के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ के प्रतीक नहीं हैं। इस प्रकार रूपवादी विचारक सौन्दर्य की सत्ता वस्तु की संरचना में ही मानते हैं और भाव तथा विचार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं मानते—अर्थात् ये इस बात से इनकार करते हैं कि भाव अथवा विचार के संस्पर्श से पदार्थ में सौन्दर्य का संचार होता है क्योंकि इनके मत से सौन्दर्य पदार्थ है चेतना नहीं है। आधुनिक युग में साहित्य के क्षेत्र में भी, रूपवादी समीक्षा का मूल मन्त्र यही है : काव्य (अथवा व्यापक रूप से कला) का सत्य अन्विति का सत्य है, संवादिता का नहीं—यानी जीवन की रसात्मक अनुभूतियों और प्रेरक विचारों की अभिव्यक्ति में काव्य अथवा कला की सार्थकता या सौन्दर्य नहीं है; कलाकृति की अपनी संरचना या रूप-निर्मिति ही उसका सौन्दर्य है।

भाववादी व्याख्या

सौन्दर्य-चिंतकों का एक तीसरा वर्ग है जो काम अथवा इच्छा को सौन्दर्य का प्राण-तत्त्व मानता है। इनके मत से सौन्दर्य भाव की अभिव्यक्ति है। एक ओर सौन्दर्य की व्यक्तिपरक व्याख्या करने के कारण अर्थात् उसे वस्तु के स्थान पर चेतना मानने के कारण ये आत्मवादी वर्ग के निकट हैं और

१. गिल्बर्ट ऐंड कून्न : ए हिस्टरी ऑफ़ ऐस्थेटिक्स, पृ० ५१३

दूसरी ओर लौकिक धरातल पर ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति के रूप में उसकी व्याख्या करने के कारण ये यथार्थवादी विचारधारा से सम्बद्ध हैं। ये विचारक एक जैविक अभिवृत्ति अथवा रागात्मक अनुभूति के रूप में ही सौन्दर्य की सत्ता मानकर चलते हैं और इसी रूप में उसका विश्लेषण करते हैं। उन्नीसवीं शती के अंत में जर्मन विद्वान् फैख़्नर ने कांट और हीगेल द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य के पारमार्थिक स्वरूप का खंडन किया और लौकिक अनुभूति के रूप में उसका निर्वचन कर मनोवैज्ञानिक अथवा प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र की उद्भावना की। उन्होंने यह दावा किया कि सौन्दर्य ऊपर आसमान की अनुभूति न होकर पृथ्वीतल के जीवन की ही अनुभूति है और इसी स्तर पर उसका विवेचन किया जा सकता है। फैख़्नर के अनुसार सौन्दर्य एक प्रकार की प्रीतिकर या सुखात्मक अनुभूति है और '**प्रत्येक ऐसी वस्तु जो केवल भावन करने पर या अपने अनुकूल परिणामों के कारण ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष रूप से और तत्काल प्रीति (सुख) का संचार करती है सुन्दर मानी जा सकती है।**'[१] सौन्दर्य का विस्तार से विवेचन करते हुए उन्होंने रूप-विषयक तीन सर्वोच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है: १. अनेकता में एकता का संबंध, २. सुसंगति, अन्वय अथवा सत्यता या यथार्थता और ३. स्पष्टता। आगे चलकर सुन्दर का संबंध प्रिय—अथवा और सही शब्दों में अभीष्ट या अभिमत के साथ स्थापित हो गया।—जिसकी हम कामना करते हैं अथवा जो हमारी इच्छा की पूर्ति करता है, वही काम्य है, वही सुन्दर है। मनोविज्ञान के विकास के साथ कामना की पूर्ति का संबंध क्रमशः अन्तःवृत्तियों के परितोष के साथ स्थापित हो गया। ग्राण्ट एलेन ने एक नवीन सूत्र दिया '**सुन्दर वह है जो हमारी अंतःवृत्तियों को अधिक से अधिक उत्तेजित करे और जिसमें कम-से-कम क्लांति और क्षय का अनुभव हो।**'[२] इसी के आधार पर रिचर्ड्स ने सौन्दर्य-मूल्य की परिकल्पना की। रिचर्ड्स के अनुसार जिस कृति में जितनी अधिक और परस्पर-भिन्न अंतःवृत्तियों का जितना अधिक परितोष करने की क्षमता हो उतना ही उसका कलात्मक मूल्य है। इस प्रकार अन्तःवृत्तियों का सामंजस्य ही कला का मूल्य है। रिचर्ड्स ने सौन्दर्य की स्वतंत्र कल्पना को कोई महत्त्व नहीं दिया—परन्तु प्रकारांतर से उनका यह कलात्मक मूल्य ही सौन्दर्य है।

मनोविश्लेषणशास्त्र के आचार्य फ्रॉयड ने सौन्दर्य का सीधा संबंध कामेच्छा या रति-भावना के साथ माना है। उनसे पहले डार्विन और उनके अनुयायी यह स्थापना कर चुके थे कि कामोपभोग के लिए उपयुक्त पात्र के

१. वोरशूल १, १५, २. फ़िज़ियोलोजिकल ऐस्थेटिक्स डर ऐस्थेटिक (१८७७), पृ० ३९

चयन में सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।—और सौन्दर्य की चेतना केवल मनुष्य में ही नहीं होती : **'जब नर पक्षी मादा के सामने अपने पंख और सुन्दर रंगों का प्रदर्शन करता है तो इसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं रह जाता कि मादा उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होती है।'**[1]

इस प्रकार मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र और जीवविज्ञान आदि के प्रभाव से प्राकृत जीवन की वृत्ति—राग अथवा काम की अभिव्यक्ति एवं परितृप्ति के रूप में सौन्दर्य को परिभाषित किया गया। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में यह मत पुराकाल से ही मान्य रहा है। आदि काल में अरस्तू ने अपने विरेचन सिद्धान्त में इसको मान्यता प्रदान की थी, लोंजाइनस ने भी भावोद्रेक को कला का प्राणतत्त्व माना है, स्वच्छन्दतावाद आन्दोलन का मूल आधार प्राणों का आवेग ही था, दार्शनिकों में[2] स्पिनोज़ा, नीत्शे और शोपनहोर ने और उधर मानवतावादी साहित्यकारों में टॉलस्टाय आदि ने भी प्रबल शब्दों में रागात्मक प्रभाव की महत्त्व-प्रतिष्ठा की है।

सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है या व्यक्तिनिष्ठ ?

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में यह प्रश्न अनायास ही उठता है कि सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है या व्यक्तिनिष्ठ—अर्थात् सौन्दर्य वस्तु का गुण है अथवा द्रष्टा या भावक की प्रतीति। सामान्यतः वस्तु के गुण होते हैं आकार-प्रकार की संरचना, रंग, दीप्ति आदि। रूपवादी सौन्दर्य-चिंतकों का मत है कि संरचना के इन तत्त्वों की समन्विति में ही सौन्दर्य निहित है—संरचना के तत्त्वों की यह समन्विति ही उनके मत से सौन्दर्य है। इसके विपरीत आत्मवादियों का विचार है कि सौन्दर्य वास्तव में चेतना या प्रतीति-रूप है, वस्तु-रूप नहीं है। संरचना की समन्विति उन्हें भी मान्य है, परन्तु यह समन्विति विषयगत नहीं है भावनागत है, अर्थात् यह वस्तु नहीं प्रतीति है। आत्मवादी के विचार से वस्तु के तथाकथित सभी गुण—आकार-प्रकार, तौल, रंग, दीप्ति आदि भी वास्तव में भौतिक पदार्थ न होकर प्रतीतियाँ ही हैं : जड़ पदार्थ का अपना कोई रूप-गुण नहीं है, ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से उसमें रूप और गुण का आविर्भाव होता है—अर्थात् उसकी प्रतीतियाँ ही उसके रूप और गुण हैं। इस तर्क से सौन्दर्य-चेतना है, विशेष पदार्थों के सन्निकर्ष से चेतन मन की क्रिया अर्थात् प्रतीति है। भाववादी आध्यात्मिक

१. दि डिसेण्ट ऑफ मैन—भाग १, परिच्छेद २

२. वी डिज़ाइर नथिंग बिकॉज़ इट इज़ गुड, बट इट इज़ गुड ओनली बिकॉज़ वी डिज़ाइर इट। (दि सेन्स ऑफ़ ब्यूटी (१९६१) सेंटायना, पृ० २५।

तत्त्व को अस्वीकार कर देता है, वह यह नहीं मानता कि सौन्दर्य किसी दिव्य चेतना की अभिव्यक्ति या प्रतिबिम्ब है; परन्तु इसके स्थान पर वह यह मानता है कि हमारी इच्छा अथवा रागात्मिका प्रवृत्ति ही वस्तु में सौन्दर्य का संचार करती है—दूसरे शब्दों में सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर भावनात्मक है : विषयगत न होकर विषयिगत है। आत्मवादी जहाँ सौन्दर्य को ऐन्द्रिय-आत्मिक अनुभूति मानता है, वहाँ भाववादी इसे ऐन्द्रिय-मानसिक प्रतीति मानता है। इनके अतिरिक्त एक समन्वयवादी दृष्टिकोण भी है जो सौन्दर्य को उभयनिष्ठ मानता है। इस मत के अनुसार सौन्दर्य पदार्थ का गुण है, किन्तु पदार्थ में इसका सन्निवेश प्रमाता की भावना द्वारा होता है; अर्थात् सौन्दर्य है तो पदार्थ का तत्त्व परन्तु वह भौतिक तत्त्व न होकर प्रतीयमान तत्त्व है। इसका बीज रूप कांट में ही मिल जाता है—बाद में मेरिटेन, सेंटायना, कैरिट आदि ने इसका पल्लवन किया है। "सौन्दर्य की सृष्टि के लिए दो की आवश्यकता होती है : विषयी और विषय, किन्तु विषय और प्रमाता द्वारा उसकी प्रतीति एक दूसरे से पृथक् और शून्य में नहीं रहते। क्योंकि सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से पदार्थ का अर्थ है पदार्थ का वह रूप जो प्रमाता द्वारा भावित होता है—वह रूप जो उसकी भावना को प्रतिव्यक्त करता है।[१] सौन्दर्य न तो पूर्णतः प्रमाता की चेतना में रहता है और न पदार्थ में। उसकी सत्ता वस्तुतः दोनों के संवाद में है। × × × सौन्दर्य का मूल तत्त्व है रूप[२] जो एक अमूर्त रेखाचित्र या अभिकल्प मात्र न होकर भावित पदार्थ के विषय में किसी विशेष सिद्धान्त (या भावना) की अभिव्यक्ति होता है। कला के क्षेत्र में रूप का अर्थ होता है मूर्त प्रतिरूपण, सादृश्य, जो प्रमाता की ज्ञानेन्द्रियों तथा चेतना का एक-साथ अनुरंजन करता है। अतः कला का लक्ष्य है रमणीय अर्थ जो पदार्थ के गोचर तत्त्वों की अभिकल्पना और अन्विति में प्रकाशित हो उठता है। इस रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कलाकृति में तीन गुण होने चाहिए—स्पष्टता, सामंजस्य, और समानुपात।"[३] इसी दृष्टि से सेंटायना ने सौन्दर्य को एक ओर आत्मा और प्रकृति की **'समनुरूपता'** और दूसरी ओर **'विषयीकृत आह्लाद'** कहा है।[४]

व्यवहार-दृष्टि से यदि हम उपर्युक्त समन्वयवादी मत को स्वीकार करलें, तो सौन्दर्य के सामान्यतः दो पक्ष माने जा सकते हैं : रूप और प्रतीति।

१. ई० ऐफ़० कैरिट : दि थिअरी ऑफ़ ब्यूटी (१९६२), पृ० १६२

२. फॉर्म

३. ए मॉडर्न बुक ऑफ़ ऐस्थेटिक्स (१९६५), पृ० २४ : मेरिटेन के विचारों का सारांश

४. दि सेन्स ऑफ़ ब्यूटी (१९६१)

ये सौन्दर्य के तत्त्व या अंग नहीं हैं क्योंकि तत्त्वों और अंगों की तो पृथक् सत्ता होती है, जबकि रूप और प्रतीति में केवल व्यवहार-दृष्टि से ही भेद माना जा सकता है, तत्त्व-दृष्टि से नहीं—ये एक ही तथ्य के दो पक्ष हैं।

सौन्दर्य की रूपाकृति

सौन्दर्य की रूपाकृति एक गोचर तथ्य है। वस्तु की सत्ता दो प्रकार की होती है : भौतिक सत्ता और गोचर सत्ता। उदाहरण के लिए गुलाब के फूल की दो प्रकार की सत्ता है—एक उसकी भौतिक सत्ता जिसका निर्माण विभिन्न रासायनिक तत्त्वों से हुआ है—जो वनस्पतिशास्त्र और रसायनशास्त्र का विषय है, और दूसरी दृष्टिगोचर सत्ता जो उसकी पंखुड़ियों के आकार-प्रकार, परस्पर गुम्फन, रंग आदि का समन्वय है : यह दृष्टिगोचर सत्ता ही उसका 'रूप' है। जैसा कि सौन्दर्य के रूपवादी विवेचन के संदर्भ में मैंने संकेत किया है, कला-समीक्षकों ने रूप के अनेक तत्त्वों का विश्लेषण किया है : आकार, अनुक्रम, अनुपात, सममिति, वैचित्र्य-वैविध्य, वर्ण, दीप्ति और इन सबकी मूलवर्ती अन्विति। ये तत्त्व सदा प्रत्यक्ष और सरल-स्पष्ट नहीं होते, अनेक संदर्भों में ये सूक्ष्म-जटिल होते हैं और कभी-कभी तो इनका अस्तित्व प्रायः अव्यक्त-सा ही रहता है। अनुक्रम और सममिति आदि की स्थिति जहाँ प्रत्यक्ष होती है, वहाँ तत्काल ही दृग्गोचर हो जाती है और सामान्य जन भी उसे पहचान लेता है, किन्तु अनेक बार वह इतनी जटिल होती है कि प्रशिक्षित व्यक्ति या रुचि-संस्कार से सम्पन्न प्रमाता ही उसका अनुभव कर सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन तत्त्वों की प्रकल्पना स्थूल और गणितीय नहीं है। समन्विति के विषय में यह और भी सत्य है—वृत्त की समन्विति एक प्रकार की है और परवलय (पैराबोला) की दूसरे प्रकार की, इसी प्रकार ताजमहल की समन्विति और पिरामिड की समन्विति अथवा उद्यान और निविड़ कान्तार की अन्विति का स्वरूप एक-सा नहीं हो सकता। यही बात वर्ण और दीप्ति के विषय में भी सत्य है; वहाँ भी आधारभूत तत्त्वों का समन्वय प्रायः अत्यन्त सूक्ष्म-जटिल रीति से सम्पन्न होता है।

सौन्दर्य-दृष्टि

सौन्दर्य का दूसरा पक्ष है उसकी प्रतीति—यही वस्तुतः सौन्दर्य-दृष्टि है। सौन्दर्य-दृष्टि का अपना वैशिष्ट्य है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। सौन्दर्य-दृष्टि एक प्रकार से व्यवहार-दृष्टि का विलोम रूप है। व्यवहार-दृष्टि में जहाँ हानि-लाभ की गणना और उपयोग की भावना मुख्य रहती है, वहाँ सौन्दर्य-दृष्टि में वस्तु का दर्शन और भावन मात्र ही प्रमुख होता है। व्यवहार

दृष्टि में परिणाम का मूल्य होता है जबकि सौन्दर्य-दृष्टि में लक्ष्य रहता है सद्यःपरनिर्वृति। उसका कोई ऐहिक प्रयोजन नहीं होता।—यहाँ तक कि ज्ञान की उपलब्धि भी उसका ध्येय नहीं होती। सौन्दर्य-दृष्टि सर्वथा निर्वैयक्तिक होती है : वैयक्तिक दृष्टि से प्रमाता जहाँ सुन्दर पदार्थ या कलाकृति को अपने संदर्भ में देखता है, वहाँ निर्वैयक्तिक दृष्टि पदार्थ के रूप पर ही केन्द्रित रहती है। वह स्व-पर की भावना से सर्वथा मुक्त होती है—न ममेति न परस्येति। इस दृष्टि से सौन्दर्य-भावना व्यक्तिबद्ध न होकर सार्वभौम होती है। सौन्दर्य-दृष्टि की एक अन्य विशेषता है तटस्थता। तटस्थता से अभिप्राय यह है कि प्रमाता विषय में लिप्त नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें विषय के प्रति अनुभूति जाग्रत नहीं होती, इसका अभिप्राय केवल यही है कि वह उसके प्रति राग-द्वेष का अनुभव नहीं करता : भाव्यमान विषय और उसके बीच में एक प्रकार का अंतराल बना रहता है जिसे सौन्दर्यशास्त्र में 'मानसिक अन्तराल' या 'कलात्मक अन्तराल' की संज्ञा दी गयी है। सौन्दर्य-दर्शन में प्रमाता की दृष्टि कला-कृति के अन्तःस्वरूप पर ही केन्द्रित रहती है, वह कृति के विभिन्न तत्त्वों के अंतःसंबंधों का ही दर्शन करता है, बाह्य सम्बन्ध-विधान का नहीं। वह वस्तु के अन्तरंग का प्रेक्षण तथा भावन करता है—उसे अपने संदर्भ में या कलाकार के संदर्भ में अथवा समाज के संदर्भ में नहीं देखता। इस प्रकार बाह्य संबंधों से मुक्ति सौन्दर्यानुभूति की अनिवार्य शर्त है। कृति के अन्तः-स्वरूप अथवा उसकी संरचना के आन्तरिक सामंजस्य की यह प्रतीति सामान्य ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति नहीं होती—उसमें कल्पना का विशेष योगदान रहता है। इसके अतिरिक्त, सौन्दर्य-दृष्टि हिताहित अथवा स्वार्थ की भावना से भी सर्वथा मुक्त, निष्काम होती है और इसी रूप में वह व्यवहार-दृष्टि से मूलतः भिन्न होती है।

संक्षेप में,

सौन्दर्यदृष्टि व्यवहार-दृष्टि से सर्वथा भिन्न होती है। अर्थात् वह निष्प्रयोजन और निष्काम—हिताहित अथवा स्वार्थ की भावना से मुक्त होती है।

वह व्यक्ति-संसर्गों से असम्पृक्त और सार्वभौम होती है।

राग-द्वेष से निर्लिप्त अर्थात् तटस्थ होती है।

बाह्य सम्बन्ध-विधान से मुक्त, कला-कृति के अंतःस्वरूप पर केन्द्रित रहती है—अर्थात् कला को उसके अन्तरंग रूप में ही देखती है, प्रमाता के अपने संदर्भ में, कलाकार के संदर्भ में या समाज के संदर्भ में नहीं देखती।

उसमें कल्पना का विशेष योग रहता है।

उसका लक्ष्य होता है सद्यःपरनिर्वृति, परिणामी उपलब्धि नहीं।

उपर्युक्त लक्षण सौन्दर्यशास्त्र के अधिकांश मनीषियों को मान्य हैं। रूपवादी का तो पूरा बल ही इन पर रहता है, आत्मवादी भी इन्हें प्रायः स्वीकार करता आया है : वास्तव में इनमें से अधिकांश विशेषताओं का निर्वचन मूलतः कांट और हीगेल ने ही किया है। आत्मवादी सौन्दर्य को भौतिक तथ्य न मानकर उसे परोक्ष सत्ता की गोचर अभिव्यक्ति अवश्य मानता है। पर कलाकृति के अन्तःस्वरूप के, जो देशकाल की सीमा से मुक्त—सार्वभौम होता है, निर्वैयक्तिक, निर्लिप्त एवं निष्काम आस्वादन के प्रति उसका भी उतना ही आग्रह है। भाववादी इतना निर्लिप्त नहीं रह पाता, किन्तु चेतना की मुक्तावस्था ही उसका भी अन्तिम लक्ष्य है। बीज रूप में इच्छा के साथ संबंध मानते हुए भी, कलात्मक परिणति की स्थिति में, भाववादी सौन्दर्य को जिस भाव की अभिव्यक्ति मानता है वह व्यक्तिगत रागद्वेष से असम्पृक्त, निर्मुक्त भाव ही होता है। अतः भाववादी को भी उक्त लक्षण अमान्य नहीं हैं। इनका विरोध अधिकतर दो दिशाओं से हुआ है : एक तो नीतिवादी सौन्दर्यशास्त्र की ओर से और दूसरे समाजवादी सौन्दर्यशास्त्र की ओर से। नीतिवादी लोक-कल्याण को कला का ध्येय मानता है और सौन्दर्य को अन्ततः शिव का पर्याय मानता है। उधर समाजवादी सामाजिक यथार्थ की चेतना को सौन्दर्य का आधार और जनहित को कला का ध्येय मानता है। किन्तु इनमें भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग में ऐसे लोग हैं जिनकी विचारधारा स्थूल नीतिशास्त्र या अनगढ़ समाजशास्त्र से प्रेरित है। ये कला का निश्चित और प्रत्यक्ष उद्देश्य मानकर चलते हैं, और सौन्दर्य-चेतना के उक्त लक्षणों का निषेध करते हैं। दूसरा वर्ग है सूक्ष्मचेता विचारकों का जिनकी लोकमंगल और जनहित की धारणा अधिक संस्कृत है : ये लोग लोकमंगल या जनहित को काल का प्रत्यक्ष फल नहीं मानते अर्थात् कला के साथ लोकमंगल या जनहित का सीधा कारण-कार्य संबंध नहीं मानते। इन लोगों का विरोध उग्र नहीं है और एक सीमा तक ये उपर्युक्त लक्षणों के साथ समझौता कर लेते हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण के फलस्वरूप पाश्चात्य विशेषज्ञों द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य की अवधारणा प्रायः स्पष्ट हो जाती है। **पाश्चात्य मत के अनुसार—**

१. सौन्दर्य पदार्थ नहीं, पदार्थ का गुण है।

२. किन्तु वह भौतिक तत्त्व अथवा भौतिक तत्त्वों का संश्लेष न होकर पदार्थ का प्रतीयमान या गोचर रूप है जिसका आविर्भाव प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से होता है।

३. प्रत्येक पदार्थ का गोचर रूप सुन्दर नहीं होता। सौन्दर्य का आधार-सूत्र है संरचना की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष या सरल अथवा सूक्ष्म-जटिल अन्विति जो

प्रमाता के ऐन्द्रिय-मानसिक संवेदनों में सामंजस्य स्थापित कर उसकी चेतना का प्रसादन करती है।

४. इस प्रकार प्रीति या आह्लाद सौन्दर्य का अनिवार्य लक्षण है।

५. संरचना की अन्विति प्रायः सूक्ष्म-जटिल होती है, अतः उसकी प्रतीति सामान्य ऐन्द्रिय प्रतीति न होकर सूक्ष्म-जटिल ऐन्द्रिय-मानसिक प्रतीति होती है जिसमें कल्पना का विशेष योगदान रहता है। इसलिए सौन्दर्य में कल्पना का तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।

६. सौन्दर्य की अवधारणा में यद्यपि ऐन्द्रिय तत्त्व की स्थिति अनिवार्य रूप से मानी गयी है, परन्तु इन्द्रियों में केवल चक्षु और श्रोत्र का---और परिणामतः सौन्दर्य में उनके विषय—रूप और शब्द—का ही अंतर्भाव किया गया है। अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ—रसना, घ्राण और त्वचा को हीनतर इन्द्रियाँ माना गया है और उनके विषय—रस, गंध और स्पर्श को सौन्दर्य की परिधि में समाविष्ट नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों ने अनेक तर्क दिये हैं जिनमें मुख्य यह है कि इनमें शरीर-तत्त्व प्रमुख रहता है तथा मनस्तत्त्व गौण—और उधर कल्पना-तत्त्व का प्रायः अभाव रहता है।

७. सौन्दर्य की परिधि में यों तो प्रकृति और कला दोनों का सौन्दर्य आ जाता है, परन्तु पारिभाषिक अर्थ में सौन्दर्य कला या उसके सौन्दर्य का ही वाचक है।

८. कला का सामान्य अर्थ है भावना (अनुभूति + विचार) की गोचर, अर्थात् मूर्त उपकरणों के माध्यम से, अभिव्यक्ति। इस प्रकार भावना का सौन्दर्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। जैसा कि कैरिट ने अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स' के परिशिष्ट में आरंभ से लेकर आधुनिक काल तक के कला-चिंतकों के उद्धरण देकर सिद्ध किया है, कला अथवा सौन्दर्य मुख्यतः भावना की ही अभिव्यक्ति का नाम हैं। भावना के स्पर्श से ही विचार समृद्ध बनता है, कल्पना सक्रिय होती है और भावना के स्पर्श से ही कला में प्रीति-तत्त्व का समावेश होता है जिसे मर्मज्ञों ने रमणीय अर्थ[1] कहा है।

९. अतः सौन्दर्य में ऐन्द्रिय तत्त्व के अतिरिक्त राग और प्रज्ञा का भी समावेश रहता है। सौन्दर्य का रूप निश्चय ही गोचर या ऐन्द्रिय होता है, किन्तु इस गोचर रूप में आकर्षण तथा मूल्य उत्पन्न करने वाले तत्त्व राग और प्रज्ञा ही हैं।

१०. सौन्दर्य का सम्बन्ध आत्मवादी दार्शनिकों ने चित् शक्ति के साथ भी माना है। रहस्यात्मक या आध्यात्मिक अर्थ को छोड़कर सौन्दर्य को चिन्मय तत्त्व मानने में अधिकांश विचारकों को आपत्ति नहीं है। □ □

१. डिलाइटफ़ुल मीनिंग—मेरिटेन

अध्याय : तीन

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य की अवधारणा

सौन्दर्य शब्द और उसके पर्याय

भारतीय वाङ्मय में 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। वेदों में और मूल उपनिषदों में यह शब्द उपलब्ध नहीं होता, किन्तु सौन्दर्य की अवधारणा और उसके वाचक-व्यंजक शब्दों तथा उक्तियों का अभाव नहीं है। रामायण में 'सुन्दर' शब्द सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है—उसके एक भाग का नाम ही सुन्दर काण्ड है। अभिजात संस्कृत साहित्य में इसका मुक्त प्रयोग है किन्तु पारिभाषिक अर्थ-वैशिष्ट्य उसे प्राप्त नहीं है, 'सुन्दर' की अपेक्षा अन्य पर्याय शब्दों का प्रयोग काव्य तथा काव्यशास्त्र दोनों में ही अधिक मिलता है। संस्कृत वाङ्मय में 'सुन्दर' के निम्नोक्त पर्याय उपलब्ध होते हैं :

सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्।
कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मंजु मंजुलम्॥ ५२॥
अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यं दयितं वल्लभं प्रियम्॥ ५३॥
(अमरकोश तृ० का०)

—अर्थात् सुन्दर, रुचिर, चारु, सुषम, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, रुच्य, मनोज्ञ, मंजु और मंजुल। अभीष्ट के अर्थ में : अभीप्सित, हृद्य, दयित, वल्लभ और प्रिय।

इसके अतिरिक्त और भी शब्द हैं जो इसी अर्थ का वाचन करते हैं—जैसे ललित, सुष्ठु, काम्य, कमनीय, रमणीय आदि। इनमें से कुछ में तो व्युत्पत्ति आदि का ही भेद है अर्थच्छाया सर्वथा समान है—जैसे मनोरम और मनोज्ञ,

रुचिर और रुच्य तथा मंजु एवं मंजुल : यहाँ धातुपद और प्रत्यय आदि का ही भेद है। साधु शब्द का अर्थ व्यापक है, यह सामान्यतः उचित का वाचक है और संदर्भ के अनुसार सुन्दर का पर्याय भी बन जाता है। सुषम और शोभन में भी अर्थ-साम्य है। सुषमा और शोभा प्रायः पर्याय ही हैं, इनसे बाह्य वैभव, कांति अथवा द्युति का बोध होता है। 'सुन्दर' की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गयी है। एक व्युत्पत्ति है—सु+उन्द्+अर्न, जिसका शब्दार्थ है—नयनों को सिक्त कर देने वाला अर्थात् सुख देने वाला। चारु तथा रुचिर का अर्थ है प्रिय या प्रीतिकर और कान्त में भी काम्यता का भाव ही प्रमुख है। अभीष्ट के वाचक सभी शब्दों में प्रमाता की अभिलाषा ही प्रमुख है। उपर्युक्त पर्यायों के अर्थ-विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें कुछ तो वस्तुपरक सौन्दर्य का द्योतन करते हैं, कुछ आत्मपरक सौन्दर्य का। सुषम, शोभन, मंजु, मंजुल में आलम्बन के विभिन्न गुणों को लक्षित किया गया है, चारु और रुचिर में भी गुणों पर ही अवधान है। ललित की व्युत्पत्ति 'लल्' धातु से हुई है जिसके दो अर्थ हैं— १. क्रीड़ा करना, लक्षणा से—शृंगार-क्रीड़ा करना, हावभाव का प्रदर्शन करना और २. कामना करना। इस प्रकार ललितं के दो अर्थ होते हैं— १. शृंगारिक हावभाव से युक्त और २. अभिलषित या दयित, जिनमें पहला अर्थ ही अधिक प्रचलित है। मनोरम, मनोज्ञ, मनोहर, रमणीय, हृद्य आदि में प्रमातृ-भावना का प्रामुख्य है : प्रिय, दयित और अभीप्सित में आलम्बन की अपनी सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार ये पर्याय विभिन्न अनुपातों में सौन्दर्य की वस्तुपरक और भावपरक अर्थच्छायाओं की व्यंजना करते हैं। इनके द्वारा सौन्दर्य की निम्नोक्त अवधारणाओं के संकेत मिलते हैं :

१. सौन्दर्य एक गोचर तत्त्व है : 'सुन्दर' में 'सुदर्शन' या 'नयनाभिराम' का भाव निहित है, 'शोभन' में गोचर आभा का आकर्षण प्रमुख है।

२. सौन्दर्य वस्तु या आलम्बन का गुण है, किन्तु वह प्रतीयमान गुण है अर्थात् उसकी सत्ता सर्वथा निरपेक्ष न होकर प्रमातृ-सापेक्ष है : 'रुचिर' और 'चारु' में प्रमाता की चेतना का प्रसादन व्यंजित है।

३. सौन्दर्य के मूल में प्रेम की भावना अथवा कामना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रहती है : 'मनोज्ञ,' 'मनोरम' और 'कांत,' 'काम्य', 'कमनीय' आदि पर्याय इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

४. सौन्दर्य में अंग-साम्य अथवा सामंजस्य की धारणा निहित है—'सुष्ठु' शब्द इसका प्रमाण है।

५. सौन्दर्य का शृंगार के साथ भी सम्बन्ध है, इसका संकेत 'ललित' शब्द से मिलता है।

६. 'लावण्य' में सौन्दर्य के प्रतीयमान स्वरूप पर अधिक बल है।

वैदिक साहित्य में सुन्दर तथा सौन्दर्य के पर्यायवाची शब्द और उनकी अर्थ-मीमांसा

वेदों में 'सुन्दर' और 'सौन्दर्य' शब्द तो नहीं मिलते किन्तु इनके अनेक पर्यायों का मुक्त प्रयोग हुआ है। प्रकृति के वैभव और जीवन के आनन्द से प्रेरित वैदिक ऋचाओं में रूप और रस का अपूर्व वर्णन है। सुन्दर और सौन्दर्य के संदर्भ में वैदिक साहित्य में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनमें मुख्य हैं : रूप, चारु, रुचिर, वल्गु, प्रिय, पेशस्, भद्र, रण्व, चित्र, मधुर, श्रिय आदि। **रूप** का प्रयोग प्रायः आकार-प्रकार (फ़ॉर्म) के अर्थ में हुआ है :

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः—वह ज्ञानवान् ईश्वर समस्त रूपों को प्रति क्षण धारण करता है। (ऋ० ५। ८१। २) किन्तु अनेक प्रसंगों में सुन्दर रूप या सौन्दर्य का भाव भी उसमें निहित है :

१. **भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सरः।**
सं रूपैरज्यते हरिः ॥ (ऋ० ९-३४-४)

× × × × वह दुःखहारी पुरुष विविध रूपों से अलंकृत किया जाता है।

२. **हरित्वता वर्चसा सूर्यस्य श्रेष्ठै रूपैस्तन्वं स्पर्शयस्व ॥**
(ऋ० १०-११-३)

दिशाओं में व्याप्त सूर्य के तेज से और उसके उत्तमोत्तम रूपों से हमारे देश का स्पर्श कर।

३. **ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्त स्वधया चरन्ति ॥**
(यजु० २-३०)

जो अनेक प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषण आदि धारण कर ऐन्द्रिय सुखों में लिप्त रहते हुए अपने बल से विचरण करते हैं।

चारु के वैदिक संस्कृत में दो अर्थ हैं—१. कल्याणरूप और २. सुन्दर या प्रीतिकर।

१. **यमी गर्भमृतावृधे दृशे चारुमजीजनन्।**
कविं मंहिष्ठमध्वरे पुरुस्पृहम् ॥ (ऋ० ९-१०२-६)

जगत् को धारण करनेवाले जिस चारु अर्थात् सबके कल्याणरूप अथवा प्रिय प्रभु को···

२. **इन्दु पविष्ट चारुर्मदायऽपामुपस्थे कविर्भगाय।**

चारु अर्थात् कल्याणरूप अथवा प्रीतिकर इन्दु=सोम

चित्र—अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु ।

(ऋ० ४-५१-२)

कांतिमय उष:समूह पूर्व दिशा में यज्ञ-स्तूपों के समान स्थित हैं। यहाँ चित्र का अर्थ है कांतिमय।

रण्व—अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं
प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम् ।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् ।
प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ॥ (ऋ० ३-६१-५)

आओ कांतिमयी उषा को अपनी अंजलि अर्पित करो और उसे नमस्कार करो। ऊपर आकाश में वह मधुदायिनी अपने आलोक का प्रसार कर रही है और वह रमणीयदर्शना सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित कर रही है।

रण्व का अर्थ है रमणीय और रण्वसंदृक् चाक्षुष सौन्दर्य का वाचक है।

वल्गु—आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमाँ कुमारीं सह नो भगेन ।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ।

(अथर्व० २-३६-१)

हे अग्ने ! हमारी यह कन्या, भाग्य से, हमारी सुमति के अनुरूप योग्य वर को प्राप्त करे। समानमनस्क वरपक्ष के लोगों को यह रुचिरा कन्या प्रिय हो और पति के साहचर्य में इसे सुख-सौभाग्य का लाभ हो।

वल्गुः रुचिरा प्रीतिजननी स्यात् (सायण)।

(अथर्ववेद : वि० भा० ग्रंथमाला-१३, सं० आचार्य विश्वबंधु)

अप्स—एषा प्रतीची दुहिता दिवो नृन्योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः व्यूरार्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः ।

(ऋ० १-८०-६।२३)

जिस प्रकार दिव की पुत्री उषा अभिमुख होकर अपने सुखप्रद रूपों को प्रकट करती है, और पूर्व दिशा को आलोक से पूरित कर देती है, इसी प्रकार (पति के प्रति) अपनी प्रेमकामनाओं को व्यक्त करनेवाली यह कन्या अपने सुखप्रद रूप को प्रकट करे।

पेशस्—एषु विश्वपेशम् धियम् धाः (ऋ० ६१-१६)

इन छंदों में सर्व प्रकार के सौन्दर्य से अलंकृत विचारों का समावेश करो।

वेद विशेषकर ऋग्वेद में काव्य-तत्त्व ही प्रमुख है, काव्यशास्त्र के विषय में तो कुछ विरल संकेत ही इधर-उधर बिखरे हैं। इसी प्रकार उसमें सौन्दर्य का वर्णन तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, किन्तु सौन्दर्य का विवेचन केवल प्रकारान्तर से ही कहीं-कहीं संकेत रूप में मिल जाता है।

उदाहरण के लिए सौन्दर्य के मधुर पक्ष का उष:सूक्त में और उदात्त पक्ष का मरुत, पुरुष, विष्णु, इन्द्र आदि से सम्बद्ध सूक्तों में अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है। उष:सूक्त में प्रकृति के गोचर सौन्दर्य का अपूर्व उल्लास है। आलोक-वसना उषा प्राची दिशा में उदित होकर अपने सौन्दर्य को अनावृत करती है। उसकी तनद्युति सद्य:स्नाता की भाँति उज्ज्वल है, वह रात्रि के श्याम आवरण को भंग कर अपने रूप को प्रकट करती है।[1] मरुतों के अमित तेज का बार-बार उल्लेख किया गया है—वे स्वर्णवर्ण हैं, अरुण आभा से दीप्त हैं, अग्नि के समान तेजस्वी और स्व-प्रकाश से भास्वर हैं। विद्युत् के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, उनके शस्त्रास्त्र विद्युत् से मंडित हैं, वे सोने की माला, सोने के वस्त्राभूषण और शिरस्त्राण धारण करते हैं।[2] इसी प्रकार इन्द्र, रुद्र और विष्णु आदि के भी विराट् एवं तेजस्वी रूपों का वर्णन ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में मिलता है। इन सभी प्रसंगों में सौन्दर्य के ऐन्द्रिय स्वरूप की स्पष्ट स्वीकृति है और कांति, वर्ण तथा ऊर्जा आदि उसके प्रमुख तत्त्वों का अत्यन्त उच्छ्वास के साथ वर्णन किया गया है—अर्थात् यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक कवि की धारणा के अनुसार सौन्दर्य का स्वरूप मूलतः ऐन्द्रिय है और कांति, वर्ण तथा ऊर्जा उसके प्रमुख तत्त्व हैं। इनमें कांति का महत्त्व सर्वाधिक है :

यूयम् गावो मेदयथा कृशंचिद् ।
अशरीरं कृणुथा सुप्रतीकम् ॥ (ऋ० ६-२८-६ ॥)

अर्थात् कांति की किरण रूपहीन को भी सुप्रतीक-सुन्दर बना देती है। साथ ही, सौन्दर्य के मानस रूप की भी वैदिक ऋचाओं में मुक्त स्वीकृति मिलती है—सौन्दर्य प्रीतिकर अथवा उल्लासप्रद है, मधुर है, स्फूर्तिप्रद है, चिरनवीन है, पवित्र है और दिव्य है।[3]

कला शब्द का प्रयोग तो वैदिक साहित्य में भाग या अंश के अर्थ में ही हुआ है, किन्तु कला की अवधारणा और उसके कतिपय रूपों का स्पष्ट उल्लेख यहाँ अवश्य मिलता है। चित्र, तक्षण तथा वयन आदि कलाओं की अनेक स्थानों पर चर्चा की गयी है और काव्य-कला का तो अत्यंत सूक्ष्म-गहन विश्लेषण हुआ है। ऋग्वेद में कविता (ऋचा) को सुवृक्ति अर्थात् 'शोभना स्तुति' कहा गया है और उसके हार्दिक (रागात्मक) तथा शैल्पिक दोनों पक्षों पर समान रूप से बल दिया गया है। काव्य-कला की अधिष्ठात्री है उषा जो

१. ऋग्वेद ५. ८०. ५
२. वही ७. ५६. १३
३. ऋ० ९-१०२-६, अथर्व० २-३६-1 आदि ।

सूर्य की दुहिता होने के कारण दिव्यप्रेरणा के आलोक का वितरण करती है : **चोदयित्री सुनृतानाम् चेतनन्ती सुमतीनाम्, धियो विश्वा वि राजति।** (ऋ० १-३-१०-७२।) अर्थात् सूर्य की दुहिता, (जो परवर्ती साहित्य में सरस्वती के रूप में प्रतिष्ठित हुई) सुन्दर गीतों की उद्बोधक, सुन्दर भावनाओं और समस्त पवित्र विचारों की प्रेरक है। उसका (काव्य-कला का) सम्बन्ध एक ओर दिव्य चेतना और हृदय के पवित्र एवं मधुर भावों के साथ है और दूसरी ओर रचना-शिल्प के साथ। वह एक ओर सुन्दर है, प्रीतिकर है, कल्याणकारी है और दिव्यसत्ता द्वारा प्रेरित है : **स्तोमम् हृद्यं सुषेवम् ब्रह्म प्रियं देवहितम्** (ऋ० ५-४२-२) और दूसरी ओर कुशल शिल्पी द्वारा रथ के समान निर्मित है—**रथम् न धीरः स्वपा अतक्षम्** (ऋ० ५-३-११)। इसीलिए वैदिक मंत्रद्रष्टा ऋचा को हृदय द्वारा निर्मित मानता है : **आ ते अग्ने ऋचा हविः हृदा तष्टम्** (ऋ० ५-१६-४७)।

इस प्रकार ऋग्वेद में वाणी के सौन्दर्य के व्याज से सौन्दर्यशास्त्र के प्रायः सभी अंगों का सूत्रबद्ध किन्तु मार्मिक विवेचन मिलता है : १. वाणी के सौन्दर्य का स्वरूप—मानस और चाक्षुष, दिव्य और लौकिक ; २. प्रेरणा-स्रोत; सौन्दर्यानुभूति का विवेचन; ३. प्रयोजन और सार्थकता ; ४. उपकरण—शब्द, अर्थ, अलंकार, लय, छंद आदि। वेदों में संगीत (नादब्रह्म) का भी विस्तार के साथ विवेचन किया गया है—जिसके आधार पर बाद में संगीत और संगीतशास्त्र का विकास हुआ है। उधर रूपविधायक कलाओं (प्लास्टिक आर्ट) अर्थात् स्थापत्य (वास्तुब्रह्म), मूर्ति, चित्र का भी यथास्थान उल्लेख है ; किन्तु जैसा कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है, वैदिक ऋषि मानव-शिल्प की अपेक्षा देवशिल्प के प्रति अधिक अनुरक्त था, अतः इन कलाओं का विवेचन अपेक्षाकृत कम है। हाँ, वेदों में कुछ ऐसे कला-प्रतीकों का सुन्दर वर्णन अवश्य मिलता है जो परवर्ती युगों में चित्र, स्थापत्य आदि के लिए अक्षय वरदान सिद्ध हुए हैं : जैसे पूर्णकुम्भ, कल्पवृक्ष देवासुर, श्री-लक्ष्मी आदि। भारतीय कलाशास्त्र में इन वैदिक प्रतीकों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपनिषद् का विषय है आत्म-विद्या—वह आत्म-चिंतन का काव्य है। वैदिक कवि जहाँ सौन्दर्य के लौकिक और दिव्य, ऐन्द्रिय और आत्मिक दोनों रूपों का रसिक था, वहाँ उपनिषद् के कवि की दृष्टि केवल आत्मा के सौन्दर्य के प्रति ही उन्मुख थी—उसने अपनी कृतियों को प्रकृति के वैभव से समेट कर आत्मा के ऐश्वर्य पर ही केन्द्रित कर रखा था। वैदिक कवि जिस अपार ऐश्वर्य का—सूर्य, चन्द्र, उषस् के हिरण्मय आलोक का दर्शन ब्रह्माण्ड में करता था, उसका साक्षात्कार उपनिषद् के कवि ने पिण्ड में किया।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।
एतद् वैतत् ॥ (कठोपनिषद् ४-९)

जिससे सूर्य का उदय होता है और जिसमें फिर वह अस्त हो जाता है, जिसमें समस्त देवता स्थित हैं और जिसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता— यही वह परं तत्त्व है ।

उपनिषद् का आधारभूत सिद्धान्त है अद्वैत अर्थात् अनेकता में एकता और यही सामरस्य अथवा सामंजस्य सौन्दर्य का मूल लक्षण है ।

एषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रय्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।
(कठोपनिषद् ३-१२)

इन समस्त भूतों में अंतर्व्याप्त आत्मा प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त नहीं होता । सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति अपनी तीव्र और सूक्ष्म दृष्टि से उसे देख सकते हैं ।

यह विश्वप्रपंच जिस मूल चेतना से अनुप्राणित है, उसी का नाम है आत्मन् और वही ब्रह्म है ।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति (कठोपनिषद् ५-१२)

वह एक नियंता जो समस्त प्राणियों का प्राण है, जो अपने एक रूप को अनेक रूपों में प्रकट करता है…… ।

यह तत्त्व—ब्रह्म या आत्म-चैतन्य अनंत आलोक से दीपित और चरम आनंद से ओतप्रोत है ।

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः ।
अमृतो हिरण्मयः । (तैत्तिरीयोपनिषद् १।६।१)

वह जो हृदय के मध्य में स्थित आकाश है, उसी में यह मनोमय अमृतस्वरूप हिरण्मय (जोतिर्मय) पुरुष रहता है ।

आनन्दो ब्रह्मेति विजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।
(तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६।१)

इस प्रकार भृगु ने यह जान लिया कि आनन्द ही ब्रह्म है । ये समस्त प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और अंत में प्रयाण करते हुए आनन्द में ही समा जाते हैं ।

इस प्रकार उपनिषद् में जिस सौन्दर्य का वर्णन है उसके दो लक्षण हैं—प्रकाश और आनन्द : गोचर रूप में वह प्रकाश है और अनुभूति के स्तर पर वह आनन्दरूप है। इसी आधार पर औपनिषदिक दर्शन से प्रभावित आचार्यों ने आगे चलकर रस को स्वप्रकाशानन्द कहा है।

रामायण

रामायण में यों तो एक काण्ड का नाम ही सुन्दर काण्ड है (और यह नामकरण कदाचित् इसीलिए भी हो सकता है कि उसमें लंकापुरी की शोभा तथा उसके अधिपति रावण के वैभव-विलास का वर्णन है, यद्यपि विशेषज्ञ इसका सम्बन्ध सुनर=हनुमान के साथ जोड़ते हैं), परन्तु सामान्यतः काव्य के वर्णनों में 'सुन्दर' विशेषण अथवा उसकी भाववाचक संज्ञा 'सौन्दर्य' का प्रयोग नहीं हुआ। सुन्दर के लिए यहाँ रमणीय, रम्य, शोभन, शुभदर्शन, चारु, रुचिर, श्रीमंत आदि पर्यायों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है :

रमणीय—

गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः।
पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः॥ २-५४-४१

—आप चित्रकूट पर्वत पर जाएँ जो पवित्र, रमणीय और नाना प्रकार की वनस्पतियों व फलों से युक्त है।

रम्य—

मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुंजरैः
सुरम्यमासाद्य समावसाश्रयम्॥ २-५४-४३

—उस सुरम्य पर्वत पर जाकर निवास करो।

सुभग—

दिवसाः सुभगादित्यश्छायासलिलदुर्भगाः।

शोभन – शोभित

चित्र

शोभितां शतशश्चित्रां···
दर्शनः चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने।
अधिकं पुरवासाच्च मन्ये च तवदर्शनात्॥ २-९५-१२

—हे शोभने ! तुम्हारे साहचर्य के कारण चित्रकूट और मन्दाकिनी का दर्शन

अयोध्या-निवास से अधिक सुखकर प्रतीत होता है।

शुभदर्शन :

महर्षिसेवितः पुण्यः पर्वतः शुभदर्शनः। २-५४-२८

मर्हाषियों से युक्त वह पर्वत पुण्य और शुभदर्शन है।

चारु : चारुदर्शन :

वसन्तपुष्पोत्करचारुदर्शनं
वसन्तमासादपि चारुदर्शनम्। ५-८-८

वसन्त ऋतु के पुष्पपुंज के समान अथवा वसन्त मास से भी अधिक सुन्दर था।

रुचिर :

अयं हि रुचिरस्तस्याः कालो रुचिरकाननः। ४-१-३१

इस वसंत ऋतु में वन अत्यन्त रुचिर प्रतीत होता है। सीता को यह ऋतु अत्यन्त प्रिय थी।

अभिराम (दर्शन) :

उवाच राम स्वभिरामदर्शनं।
प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम्॥ ४-२८-६५

अपनी शुभ दृष्टि का परिचय देते हुए लक्ष्मण अभिरामदर्शन राम से बोले।

प्रियदर्शन :

देवगंधर्वपुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः।
दिव्यमानाम्बरधरैः शोभितां प्रियदर्शनैः। ४-३३-६

दिव्यवस्त्रालंकार धारण किये देवताओं और गंधर्वों के पुत्र प्रियदर्शन वानर उस किष्किंधापुरी की शोभा बढ़ाते थे।

इसी प्रकार सौन्दर्य के लिए रूप, शोभा, श्री, सुषमा आदि पर्यायों का मुक्त प्रयोग मिलता है। रूप शब्द का प्रयोग मानव-सौन्दर्य के अर्थ में स्पष्ट रूप से किया गया है :

तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा॥ १-६३-५

महातेजस्वी विश्वामित्र ने वहाँ रूप में अप्रतिम उस मेनका को देखा।

जैसे बादल में बिजली चमकती है, ऐसे ही वह पुष्कर के जल में शोभा दे रही थो।

रामायण में आदिकवि ने सौन्दर्य के प्रायः सभी रूपों का अत्यंत उल्लास और उच्छ्वास के साथ वर्णन किया है। प्रकृति के सौन्दर्य के अंतर्गत आकाश, चन्द्र, सूर्य, मेघमाला, वन-उपवन, शैल, नदी, सरोवर आदि का, वसन्त, शरद्, हेमंत आदि ऋतुओं का, भौतिक सौन्दर्य के अंतर्गत नगर, सभा-भवन, राजमार्ग, राजभवन, विमान-भवन आदि का और मानव-सौन्दर्य के अंतर्गत नर-नारी के रूप-लावण्य के समृद्ध वर्णन इस महाग्रंथ में बिखरे पड़े हैं। उधर कलागत सौन्दर्य का भी अनेक स्थलों पर स्पष्ट वर्णन है—काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य—सभी का यथास्थान और पर्याप्त विस्तार के साथ उल्लेख है। वाल्मीकि का काव्य व्यक्त जीवन का काव्य है जिसमें उपनिषद् के रहस्य-दर्शन का प्रायः अभाव है, अतः उसमें अलौकिक सौन्दर्य की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति तो नहीं है, परन्तु मनःगोचर सौन्दर्य अथवा भाव-सौन्दर्य का वैभव प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।

प्राकृतिक वर्णनों में आदि कवि ने सौन्दर्य के जिन तत्त्वों पर विशेष बल दिया है उनमें वर्ण-वैभव, दीप्ति, औज्ज्वल्य, निर्मलता, मसृणता या सुखस्पर्श, वैचित्र्य, नवीनता, उन्मुक्त प्रसार आदि प्रमुख हैं :

वर्ण-वैभव

केचिद् रजतसंकाशाः केचित् स क्षतजसंन्निभाः।
पीतमांजिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः॥
पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिज्ज्योतीरसप्रभाः।
विराजन्ते चलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः॥ २-९४-५-६

विभिन्न धातुओं से अलंकृत अचलराज चित्रकूट प्रदेश कितने सुन्दर लगते हैं। इनमें से कोई तो चाँदी के समान चमक रहे हैं। कोई लहू की लाल आभा का विस्तार करते हैं। किन्हीं प्रदेशों के रंग पीले मंजिष्ठ वर्ण के हैं। कोई श्रेष्ठ मणियों के समान उद्भासित होते हैं। कोई पुखराज के समान, कोई स्फटिक के सदृश और कोई केवड़े के फूल के समान कान्ति वाले हैं तथा कुछ प्रदेश नक्षत्रों और पारे के समान प्रकाशित होते हैं।

दीप्ति

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव।
श्रोषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः॥ २-९४-२१

रात में इस पर्वतराज के ऊपर उगी हुई सहस्र ओषधियाँ अपनी प्रभा-

सम्पत्ति से प्रकाशित होती हुई अग्नि-शिखा के समान उद्‌भासित होती हैं।

औज्ज्वल्य और निर्मलता

१. क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित् पुलिनशालिनीम्।
क्वचित् सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम्॥ २-९५-९

देखो! मन्दाकिनी नदी की कैसी शोभा है, कहीं तो इसमें मोतियों के समान स्वच्छ जल बहता दिखाई देता है, कहीं यह ऊँचे कगारों से ही शोभा पाती है (वहाँ का जल ऊँचे कगारों में छिप जाने के कारण दिखाई नहीं देता) और कहीं सिद्धजन इसमें अवगाहन कर रहे हैं तथा यह उनसे व्याप्त दिखाई देती है।

२. सौमित्रे शोभते पम्पा वैदुर्यविमलोदका। ४-१-२
हे सौमित्रि! पम्पा का जल वैदुर्य मणि के समान निर्मल है।

३. एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता। ४-१-६३
लाल-नीले कमलों से युक्त यह पम्पा प्रसन्नसलिला है।

सुखस्पर्शता

स एव सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः। ४-१-१७
चन्दन के संपर्क से शीतल इस वायु का स्पर्श अत्यंत सुखद है।

वैचित्र्य

१. विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि! २-९४-१६
विचित्र शिखरों से युक्त इस पर्वत पर मेरा मन बहुत रमता है।

२. प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः। २-५४-३४
वैचित्र्यपूर्ण कथाएं कहते-कहते रात्रि आ गयी।

नवीनता एवं सद्यस्कता

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रं
× × × ×
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥ ४-२८-१८

सर्ज और कदम्ब पुष्पों से युक्त पर्वत की धातुओं के मिश्रण के कारण ताम्रवर्ण का नवीन जल नदियों में वेग से प्रवाहित था।

मानव-सौन्दर्य के अंतर्गत रामायण में नर-नारी के रूप का स्थान-स्थान

पर प्रसंगानुकूल वर्णन है। नारी के संदर्भ में—सुवर्णमयी अंगकांति, कमल के समान नेत्रों और मृदुल किंतु पुष्ट अंगों से युक्त रूपयौवनसम्पदा का, और उधर पुरुष के संदर्भ में उच्च स्कंध, दीर्घ बाहु तथा आयत नेत्रों का अत्यंत मनोयोग के साथ वर्णन है।

१. गौरीं कनकवर्णाभामिष्टामन्तःपुरेश्वरीम्।
कपिः मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम्॥ ५-१०-५२।५३
तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसम्पदा।

मन्दोदरी गोरी कनकवर्णाभा, चारुरूपिणी तथा प्रियदर्शना थी। उसकी रूपयौवनसम्पदा के कारण हनुमान ने उसे सीता समझा।

२. अन्या कनकसंकाशैर्मृदुपीनैर्मनोरमैः। ५-१०-४२

अन्य रमणियाँ कनकवर्णी थीं—उनके अंग मृदुल और पुष्ट थे।

उधर पुरुष के संदर्भ में सुरूप, तेजस्वी व्यक्तित्व, विशाल नेत्र, समञ्जस तथा पुष्ट स्कंध, दीर्घ बाहु, अंग-संगति अथवा सुन्दर संघटना आदि सौन्दर्य-तत्त्वों का स्तवन है :

पीनौ समसुजातांसौ संगतौ बलसंयुतौ। ५-१०-१७

रावण की भुजाएँ पुष्ट और बलिष्ठ थीं, स्कंध समंजस और सुनिर्मित थे, उनकी संधियाँ दृढ़ थीं—अर्थात् संघटना में पूर्ण संगति थी।

रामायण में प्रायः समस्त ललित कलाओं का स्पष्ट उल्लेख है : अयोध्या, किष्किन्धा तथा लंका आदि नगरियों के प्रसंग में स्थापत्य, मूर्ति और चित्र कलाओं का और राज-वैभव के प्रसंगों में संगीत-नृत्य का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। अयोध्या में सभी प्रकार के शिल्पियों का निवास था : **उषितां सर्वशिल्पिभिः।**[१] नगर की रचना अष्टापदाकार अर्थात् द्यूतफलक के आकार की थीं : पुरी के केन्द्र में राजभवन था, उसके चारों ओर राजवीथियाँ थीं और बीच में ख़ाली जगहें थीं। राजमार्ग विस्तीर्ण एवं सुविभक्त थे। श्रीमंतों के भवन प्रायः विमान के आकार के होते थे। रावण का राजभवन पुष्पक विमान के आकार का था। उसकी आधारभूमि पर स्वर्ण और मणियों से कृत्रिम पर्वतमालाओं का निर्माण किया गया था। वह रत्नों की प्रभा से जगमग था। उसके भीतर नानाप्रकार की मणियों से खचित पशु-पक्षियों के चित्र बने हुए थे :

१. ४-८-१०

प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः
सलीलमावर्जितजिह्मपक्षाः ।
कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षाः
कृता विहंगाः सुमुखाः सुपक्षाः ॥ ५-७-१३

उस विमान पर सुन्दर मुख और मनोहर पंख वाले बहुत ऐसे विहंगम निर्मित हुए थे, जो साक्षात् कामदेव के सहायक जान पड़ते थे। उनकी पाँखें मूँगे और सुवर्ण के बने हुए फूलों से युक्त थीं तथा उन्होंने लीलापूर्वक अपने बाँके पंखों को समेट रखा था।

उस विभान-भवन के कमल-मण्डित सरोवर में—

नियुज्यमानाश्च गजाः सुहस्ताः
सकेसराश्चोत्पलपत्रहस्ताः ।
बभूव देवी च कृतासुहस्ता
लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता । ५-७-१४

ऐसे हाथी बनाए गए थे, जो लक्ष्मी के अभिषेक कार्य में नियुक्त थे। उनकी सूंड़ बड़ी सुन्दर थी। उनके अंगों में कमलों के केसर लगे हुए थे तथा उन्होंने अपनी सूंड़ों में कमल-पुष्प धारण किए हुए थे। उनके साथ ही वहाँ तेजस्विनी लक्ष्मी देवी की प्रतिमा भी विराजमान थी, जिनका उन हाथियों के द्वारा अभिषेक हो रहा था। उनके हाथ बड़े सुन्दर थे और उन्होंने कमल-पुष्प धारण कर रखा था।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण-युग में चित्रकला तथा मूर्तिकला का काफ़ी विकास हो चुका था और कलाकार रूप-आकार के अतिरिक्त मुद्राओं तथा चेष्टाओं व क्रिया-व्यापार की भी जीवंत अभिव्यक्ति करने में निपुण थे।—संगीत-नृत्य एवं वाद्यकला का भी रामायण में स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है :

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ १-४-८
रसैः श्रृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः ।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतद्गायताम् ॥ १-४-९
तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकोविदौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ ॥ १-४-१०

वह महाकाव्य पढ़ने और गाने में भी मधुर, द्रुत, मध्य और विलम्बित —इन तीनों गतियों से अन्वित, षड्ज आदि सातों स्वरों से युक्त, वीणा

बजाकर स्वर और ताल के साथ गाने योग्य, श्रृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक तथा वीर आदि सभी रसों से अनुप्राणित है। दोनों भाई कुश और लव उस महाकाव्य को पढ़कर उसका गान करने लगे। वे दोनों भाई गान्धर्व-विद्या (संगीतशास्त्र) के तत्त्वज्ञ, स्थान और मूर्च्छना के जानकार, मधुर स्वर से सम्पन्न तथा गन्धर्वों के समान मनोहर रूप वाले थे।

प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वनम्।
तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालपदाक्षरम्॥ ४-३३-२१

उसमें प्रवेश करते ही लक्ष्मण के कानों में संगीत की मीठी तान सुनायी पड़ी, जो वहाँ निरन्तर गूज रही थी। वीणा के लय पर कोई कोमल कण्ठ से गा रहा था। प्रत्येक पद और अक्षर का उच्चारण सम-ताल का प्रदर्शन करते हुए हो रहा था।

उपानृत्यंत काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः।
मनोऽभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः॥ ७-४२-२२

नृत्यगीत में निपुण रूपवती स्त्रियां रामचन्द्र के निकट अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन करने लगीं।

रावण के राजभवन की स्त्रियां रूप-लावण्य की चर्चा और गीत के समुचित अभिप्राय का अपनी वाणी द्वारा प्रतिपादन करने में प्रवीण थीं :

रूपसंलापशीलेन युक्तगीतार्थभाषिणा। ५-११-७

वाणी की कला का किष्किन्धा काण्ड में एक स्थान पर बड़ा स्पष्ट व्याख्यान किया गया है। हनुमान् की वक्तृत्व-कला का विश्लेषण राम इस प्रकार करते हैं :

अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यंजनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥ ५-३-३१-३३

उन्होंने थोड़े में बड़ी स्पष्टता के साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है। उसे समझने में कहीं कोई संदेह नहीं हुआ है। रुक-रुक कर अथवा शब्दों या अक्षरों को तोड़-मरोड़कर किसी ऐसे वाक्य का उच्चारण नहीं किया है जो सुनने में कर्णकटु हो। इनकी वाणी हृदय में मध्यमा रूप से स्थित है और कण्ठ से

वैखरी रूप में प्रकट होती है अतः बोलते समय इनकी आवाज़ न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊँची। मध्यम स्वर में ही इन्होंने सब बातें कही हैं।

ये संस्कार और क्रम से सम्पन्न, अद्‌भुत, अविलम्बित तथा हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं।

हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीनों स्थानों द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होने वाली इनकी इस विचित्र वाणी को सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा। वध करने के लिए तलवार उठाए हुए शत्रु का हृदय भी इस अद्‌भुत वाणी से बदल सकता है।

उपर्युक्त श्लोकों में प्रभावी वाणी-विन्यास के लिए वाग्विस्तार, संदिग्धपदत्व, कर्णकटुत्व आदि दोषों का अभाव और अर्थ-व्यक्ति, अनुक्रम, संस्कार, चमत्कृति आदि गुणों का सद्‌भाव आवश्यक माना गया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से रामायण में व्याप्त सौन्दर्य-दर्शन के विषय में निम्नोक्त तथ्य प्राप्त होते हैं:

१. आदि कवि ने सौन्दर्य के समस्त रूपों का अत्यंत मनोयोग और उच्छ्वास के साथ वर्णन किया है। इनमें प्राकृतिक सौन्दर्य का प्राधान्य है, किन्तु मानव-सौन्दर्य अथवा रूप तथा कलागत सौन्दर्य का वर्णन भी कम नहीं है।

२. प्राकृतिक चित्रों में सौन्दर्य के जिन तत्त्वों पर बल दिया गया है वे हैं: वर्ण-वैभव, दीप्ति, औज्ज्वल्य एवं निर्मलता, वैचित्र्य और नवीनता, सुखस्पर्शिता तथा सद्यस्कता। प्रकृति के केवल मधुर-कोमल रूपों में ही नहीं, वरन् परुष और विराट दृश्यों में भी सौन्दर्य का उद्‌घाटन किया गया है और चाक्षुष सौन्दर्य अथवा रूप के अतिरिक्त गंध तथा स्पर्श के प्रभाव की भी स्पष्ट स्वीकृति है।

३. मानव-सौन्दर्य के प्रसंग में अंग-सामंजस्य, सुडौल रचना, कांति, समृद्धि और अलंकार—स्त्रियों के संदर्भ में कोमलता और विलास, तथा पुरुषों के संदर्भ में बलिष्ठता एवं तेजस्विता आदि गुणों का उल्लेख है।

४. कलागत सौन्दर्य के प्रसंग में स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत-नृत्य आदि के स्थान-स्थान पर प्रचुर वर्णन मिलते हैं जिनमें अन्विति, समविभाग, वर्णच्छटा, समृद्धि, अलंकरण, मुक्त प्रसार, जीवंतता आदि तत्त्वों का प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से निरूपण किया गया है।

५. काव्यकला से तो ग्रंथ के सभी प्रमुख प्रकरण अनुप्राणित हैं जिनमें रस अर्थात् भाव-सौन्दर्य तथा गुणालंकार अथवा अभिव्यंजना-सौन्दर्य का अपूर्व वैभव मिलता है।

रामायण काव्यग्रंथ है, अतः सौन्दर्य का वर्णन ही कवि का उद्देश्य रहा है, विवेचन उसका विषय नहीं है। परन्तु इन वर्णनों से कवि की सौन्दर्य-चेतना

—एवं तद्विषयक विचारों का परिचय निश्चय ही मिल जाता है।

६. इनके अतिरिक्त कुछ स्थल ऐसे भी हैं जिनमें तत्त्व-विवेचन का भी प्रयत्न किया गया है। स्थापत्य के प्रसंग में वाल्मीकि का निम्नोक्त कथन अत्यंत मार्मिक है :

मनसैव कृतां लंकां निर्मितां विश्वकर्मणा। ४-२-२२

विश्वकर्मा द्वारा निर्मित लंका ऐसी प्रतीत होती थी मानो उसकी रचना मन के द्वारा की गयी हो।—इसमें कालिदास की उस प्रसिद्ध उक्ति की पूर्व-ध्वनि है जिसका सौन्दर्य की सर्जन-प्रक्रिया के प्रसंग में अनेक विद्वानों ने बार-बार स्तवन किया है : **रूपोच्चयेन विधिना मनसा कृता नु।**

कला की रचना यांत्रिक क्रिया अथवा शिल्प-नैपुण्य मात्र न होकर मन की अथवा यह कहें कि मानसिक बिम्ब की सृष्टि है। यह वास्तव में सौंदर्य-शास्त्र के उसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व की विवृति है जिसका प्रतिपादन क्रोचे ने किया है—अर्थात् कला की सृष्टि मूलतः मानस-बिम्ब के रूप में होती है।

७. संगीत-नृत्य कला का वर्णन रामायण में और भी अधिक मिलता है और उसमें पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भी है, जिससे इस बात का संकेत मिलता है कि उस समय तक भारत में संगीतशास्त्र का नियमित रूप से निर्माण हो चुका था। बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग के जो श्लोक ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनमें तो गांधर्व-तत्त्व अर्थात् संगीतविद्या के स्पष्ट उल्लेख के साथ-साथ गति, स्वर, लय, स्थान, मूर्च्छना आदि शास्त्रीय शब्दावली का भी प्रयोग है। किन्तु यह अंश प्रामाणिक नहीं है, अतः इसके आधार पर कोई निर्णय करना उचित नहीं होगा। फिर भी सम-ताल, लय आदि का बार-बार उल्लेख उक्त तथ्य की पुष्टि अवश्य करता है। **'रूपसंलापशीलेन युक्तगीतार्थभाषिणा'।** (५-११-७) में कवि ने लिखा ही है कि रावण के अंतःपुर की रमणियां सौन्दर्य का विवेचन और गीत के वास्तविक मर्म का प्रतिपादन करने में दक्ष थीं, अर्थात् उस युग में सौन्दर्य का उपभोग और अभिव्यक्ति ही नहीं वरन् विवेचन और विश्लेषण का क्रम भी चलता था।

८. काव्य-तत्त्व के विवेचन के प्रसंग में रामायण के तीन श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :

१. **रसैः शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।**
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतद् गायताम्॥ १-४-९

२. **पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।**
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥ रामायण १-२३-६

शोक से कातर मेरे मन से पादबद्ध, समान अक्षरों से युक्त, तन्त्री-लय-

समन्वित जो श्लोक उद्गीर्ण हुआ है, वह अन्यथा नहीं हो सकता (सत्य होकर ही रहेगा।)

३. समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

—रामायण बा० का० २-४२

समान अक्षरों और चार पादों में महर्षि ने जिस शोक का उद्गार किया था, वह बाद में (मुनि तथा अनेक शिष्यों के) बार-बार वाचन से श्लोक (छंद) में परिणत हो गया।

इनमें से पहला श्लोक तो प्रक्षिप्त है, शेष दो में काव्य-सौन्दर्य के तत्त्व-विवेचन के सम्बन्ध में अस्फुट किन्तु मार्मिक संकेत मिलते हैं—(१) काव्यकला का प्रेरक तत्त्व भाव है, (२) आवेग के प्रभाव या दबाव से भाषा में लय का संचार हो जाता है और उसी से छन्द की सृष्टि होती है। बाद में चलकर कालिदास ने अपनी अमोघ शैली में इसी रहस्य का उद्घाटन किया है :

श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। (रघुवंश १४-७०)

और इसी के आधार पर आनन्दवर्धन ने अपने रसध्वनि सिद्धांत का पोषण किया है :

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ध्वन्यालोक १-५

अर्थात् काव्य की आत्मा वही (प्रतीयमान) अर्थ (रस) है। इसी से प्राचीनकाल में क्रौंच (पक्षी) के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदि कवि का शोक श्लोक में परिणत हुआ।

इस पर अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका है :

स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवन-क्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः। ध्वन्यालोक, चौ० सीरीज़, १९९७, पृष्ठ ८६।

—इसका सारांश यह है कि वाल्मीकि के हृदय में वासना रूप में विद्यमान शोक स्थायी भाव को इस दृश्य से रस-सामग्री प्राप्त हो गयी। मृत पक्षी आलम्बन, जीवित पक्षी आश्रय, जीवित पक्षी का विलाप अनुभाव आदि थे। इनकी चर्वणा से मुनि का शोक पक्षी के शोक के साथ तन्मय हो गया।

यह मनःस्थिति लौकिक शोक से भिन्न थी—उसका आस्वादन चित्त की द्रुति के रूप में ही किया जा सकता था। जिस प्रकार अधिक भर जाने से घड़ा छलकने लगता है—या भावना-विभोर हो जाने से चित्तवृत्ति स्वभावतः विलाप-प्रलाप में व्यक्त होने लगती है, उसी प्रकार शोक-भावना के अधिक भर जाने पर आवेश के कारण उचित शब्द और वृत्त में नियंत्रित होकर तत्काल ही वाल्मीकि का शोक श्लोक में परिणत हो गया।

इन उद्धरणों से क्या अर्थ निकलता है?

(i) रस काव्य का प्राण-तत्त्व है: काव्य का जन्म ही रस-दशा में हुआ था। अतः रसवाद के बीज वाल्मीकि रामायण में ही मिल जाते हैं। आनंदवर्धन और उनसे भी अधिक अभिनवगुप्त वाल्मीकि का प्रमाण देकर रस-ध्वनिवाद की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। यहाँ तक तो ठीक है।

(ii) किन्तु रसशास्त्र अर्थात् रस के शास्त्रीय विवेचन का भी संकेत वाल्मीकि में है, यह मानना कठिन है। कालिदास के छंद और आनंदवर्धन की कारिका—दोनों में से किसी में भी 'रस' के 'अर्थ' (स एवार्थः)—अर्थात् स्थायी भाव की परिणति रूप 'रमणीय अर्थ' से आगे, रस के शास्त्रीय विवेचन का कोई संकेत नहीं है। अभिनवगुप्त ने परवर्ती शास्त्र-विवेचन के आधार पर ही वाल्मीकि के छंदों का रसशास्त्र की शब्दावली में व्याख्यान किया है।

महाभारत

महाकाव्य-युग की दूसरी महान् रचना है महाभारत। यह ग्रन्थ भारत-विद्या का विश्वकोश है। किन्तु इसके विषय में कठिनाई यह है कि रामायण की भाँति एक कवि और एक काल की रचना नहीं है। इसके निर्माण में अनेक कवियों ने योगदान किया है और इसका रचना-क्रम शताब्दियों तक चलता रहा है, इसमें संदेह नहीं। ऐसी स्थिति में मूल महाभारत के स्वरूप का और उसी अनुपात से उसके विभिन्न अंशों के रचना-काल का निर्णय करना अत्यंत कठिन हो गया है। अतः हमारे सामने केवल एक ही विकल्प है और वह यह कि सामान्य उपलब्ध संस्करण का आश्रय लेकर ही अपना कार्य सम्पन्न करें। रामायण की तुलना में महाभारत में काव्य-तत्त्व की अपेक्षा इतिहास-तत्त्व की और उसी अनुपात से सौन्दर्य-वर्णन की अपेक्षा वृत्तवर्णन की प्रधानता है। विवेचन-पक्ष इसका रामायण की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और पुष्ट है, किन्तु उसके विषय धर्म, राजनीति, सदाचार आदि ही हैं सौन्दर्य अथवा कला नहीं।

महाभारत में सुन्दर के लिए रम्य, रुचिर, सुरूप, हृद्य, चारु, कांत, प्रियदर्शन, शोभन, मनोरम, मनोज्ञ, सुभग आदि उन सभी पर्यायों का मुक्त

प्रयोग है जो रामायण में प्राप्त होते हैं :

१. **रूपवान् दर्शनीयश्च**···।(उद्योगपर्व, ९८-१२)

२. तत्त्वमाख्याहि **शोभने** । (वनपर्व, १२३-३)

३. कर्णिकारवनं **रम्यं**··· । (भीष्मपर्व ६-२४)

४. **कान्तश्च** प्रियश्च स्थिरसंगरः। (वनपर्व ४५-१२)

५. **मनोज्ञे** काननवरे··· । (वनपर्व १४५-४५)

६. **रुचिरस्ते** वरो भवेत्। (उद्योगपर्व १००-१६)

७. कौतूहलाद् विस्मित**चारु**नेत्रा। -११-३

८. उवाच वाक्यं मधुरामिधानं
मनोहरं चन्द्रमुखी प्रसन्ना ॥ (अनु०प० ११-५)

९. सत्यासु नित्यं **प्रियदर्शनासु**,
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ॥ (अनु०प० ११-१३)

१०. **सुभगो** दर्शनीयश्च··· । (अनु०प० ११०-१०)

११. दृष्टैव पुरुषं **हृद्यं**··· । (अनु०प० ३८-२६)

इसके अतिरिक्त 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग भी कहीं-कहीं मिल जाता है किन्तु यह प्रयोग अत्यंत विरल है :

१२. **चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी** । (वनपर्व ५३-१४)

१३. (क) **स्त्रियाः कुमुदवर्णाश्च सुन्दर्यः प्रियदर्शनाः** ।
(भीष्मपर्व ८-१६)

उपर्युक्त शब्दों का अर्थ-विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें के कुछ पर्याय तो सौन्दर्य के गोचर स्वरूप को उभार कर रखते हैं, जैसे—रूपवान्, शोभन, दर्शनीय, सुन्दर। कुछ उसके मनोग्राह्य रूप को रेखांकित करते हैं—उदाहरण के लिए मनोज्ञ, मनोहर, रुचिर, कान्त आदि और कुछ में—जैसे प्रियदर्शन आदि में ऐन्द्रिय तथा मानसिक दोनों रूपों का समन्वय है। इन दोनों प्रयोगों से महाभारत में व्यक्त सौन्दर्य-विषयक धारणा का स्वरूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है : सौन्दर्य वह तत्त्व है जो इन्द्रियों—विशेषतः चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से चेतना का प्रसादन करता है : **चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी ।** (वनपर्व ५३-१४)

महाभारत में सौन्दर्य का वैभव उतना नहीं है जितना कि रामायण में, फिर भी यहाँ उसके—प्राकृतिक, मानवीय, कलात्मक—सभी रूपों के यथाप्रसंग मार्मिक वर्णन मिलते हैं। प्राकृतिक चित्रों में सौन्दर्य के सभी प्रमुख तत्त्वों, वर्ण-वैभव, दीप्ति, औज्ज्वल्य, निर्मलता, वैचित्र्य आदि का कवि ने अत्यन्त उच्छ्वास के साथ उल्लेख किया है। सुमेरु-पर्वत स्वर्णमय है, उसकी आभा बालसूर्य तथा निर्धूम अग्नि के समान है—

परिमण्डलस्तयोर्मध्ये मेरुः कनकपर्वतः ।
आदित्यतरुणाभासो विधूम इव पावकः ।। (भी० प० ६-१०)

सरोवरों की शोभा विचित्र और जल निर्मल है :

सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च । (व० प० १४५-४७)

भागीरथी उज्ज्वल कमलों से मण्डित है :

भागीरथीं सुतीर्थां च शीतां विमलपंकजाम् । (वनपर्व १४५-५०)

कहीं-कहीं प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रों को सूक्ष्मतर बिम्ब-विधान एवं चैतन्य स्पर्शों के कारण एक नया आयाम प्राप्त हो गया है :

यथा हि पुरुषः पश्येदादर्शे मुखमात्मनः ।
एवं सुदर्शन द्वीपो दृश्यते चन्द्रमण्डले ।। (भीष्मपर्व ५-१६)

चन्द्रमण्डल में अवस्थित सुदर्शन द्वीप ऐसा प्रतीत होता था, मानो दर्पण में किसी व्यक्ति का मुख ।—चन्द्रमा अपनी रश्मिबाहुओं के अमृत से प्राणियों को नव जीवन दान करते हैं :

उद्यन् नित्यशश्चात्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः ।
अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात् संजीवयति देहिनः ।।
(उद्योगपर्व ९९-१०)

उक्त श्लोक में सौन्दर्य के अमृतमय प्रभाव का उल्लेख है ।

मानव-सौन्दर्य के प्रसंग में महाभारत में अंगों के रूप-सौभाग्य को जीवन की अमूल्य उपलब्धि माना गया है और उसका अत्यन्त मुक्त भाव से स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है। युधिष्ठिर भीष्म पितामह से प्रश्न करते हैं :

अंगानां रूपसौभाग्यं प्रिय चैव कथं भवेत् ।
धर्मार्थकामसंयुक्तः सुखभागी कथं भवेत् ।। (अनु० प० ११०-५)

मनुष्य को अंगों का प्रीतिकर रूप-सौभाग्य किस प्रकार प्राप्त होता है ? धर्मार्थकामसंयुक्त पुरुष किस प्रकार सुख का भागी बन सकता है ? पुरुष के संदर्भ में बलिष्ठगात्र, दीप्तवर्ण, आंतरिक तेज आदि गुणों का—**तत्र हृष्टा नरा राजंस्तेजोयुक्ता महाबलाः** (भी० प० ६-३६) और नारी के संदर्भ में समानुपातिक, अनवद्य अंग-सम्पत्ति, वर्णकांति, सौकुमार्य आदि का स्तवन है :

१. **सुविभक्तानवद्यांगी**——(आदिपर्व १७०-९)

२. **आक्षिपन्तीमिव प्रभां शशिनः स्वेन तेजसा ।** (वनपर्व ५५-१३)

नर-नारी के सौन्दर्य-प्रसाधन में वस्त्रालंकार के योगदान का उल्लेख बार-बार हुआ है। अलंकार रूप-यौवन-सम्पदा की श्रीवृद्धि करते हैं, अत: वे भी सौन्दर्य के प्रभावी उपकरण हैं; किन्तु सौन्दर्य के वे नित्य धर्म नहीं हैं, क्योंकि सौन्दर्य का अनिवार्य आकर्षण अलंकार के आश्रित नहीं है।

अनाभरणसम्पन्ना परमाम्बरवर्जिता।
शोभयस्यधिकं भद्रे ! वनमप्यनलंकृता॥ (वनपर्व १२३-७)

सुकन्या के प्रति अश्विनीकुमारों का कथन है : भद्रे तुम्हारे अंगों पर आभूषण नहीं हैं और तुम शोभन वस्त्रों से भी वंचित हो। तुमने किसी प्रकार का शृंगार नहीं किया हुआ, फिर भी तुम इस वन की शोभा बढ़ा रही हो।

कला-सौन्दर्य के अंतर्गत काव्य अर्थात् वाणी के चमत्कार के अतिरिक्त संगीत-नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि का उल्लेख मिलता है। गांधर्व-विद्या का उस समय तक काफ़ी विकास हो चुका था। अर्जुन चित्रसेन से गीत, वाद्य और नृत्य कला की शिक्षा प्राप्त करते हैं :

गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान्। (वनपर्व ४४-१०)

च्यवन ऋषि के प्रभाव से राजा कुशिक एक सुन्दर महल का निरीक्षण करते हैं जिसमें नाना प्रकार की चित्रशालाएं थीं, और भूमि कहीं शाद्वलभूषित और कहीं कांचनकुट्टिम अर्थात् स्वर्णजटित थी।

चित्रशालाश्च विविधास्तोरणानि च भारत।
शाद्वलोपचितां भूमिं तथा कांचनकुट्टिमाम्॥ (अनु० प० ५४-४)

हिरण्यपुर के भवन चाँदी-सोने के बने हुए थे। उनका निर्माण शिल्प-शास्त्रीय विधान के अनुसार हुआ था। उनमें वैदूर्य मणियां जड़ी हुई थीं और वे प्रवाल से सुसज्जित थे :

पश्य वेश्मानि रौक्माणि मातले राजतानि च।
कर्मणा विधियुक्तेन युक्तान्युपगतानि च॥ (उ० प० १००-९)
वैदूर्यमणिचित्राणि प्रवालरुचिराणि च। (उ० प० १००-१०)

इनके अतिरिक्त कला-तत्त्व के विवेचन के विषय में भी कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत महाभारत में उपलब्ध होते हैं :

१. **अनल्पेन प्रयत्नेन निर्मितं विश्वकर्मणा।**
मयेन मनसा सृष्टं पातालतलमाश्रितम्॥ (उ० प० १००-२)

२. तत्र दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुशिकस्तदा। (अनु० प० ५४-२)
—अर्थात् कला में नैपुण्य तथा शिल्प-साधना का अपना महत्त्व है। उसका अपना विधान होता है। किन्तु इस शिल्प-साधना को अनुप्राणित करने वाला तत्त्व है शिल्पी का 'अभिप्राय'—अर्थात् प्रेरक भाव जो दिव्य अर्थात् अलौकिक होता है। इसलिए कला की रचना यांत्रिक निर्मिति न होकर मूलतः मानसी सृष्टि होती है। इस प्रकार महाभारत में इस प्रसिद्ध कला-सिद्धांत का स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि कला-प्रक्रिया के दो अंग हैं: दर्शन अर्थात् मानसिक बिम्ब-विधान और वर्णन अर्थात् बाह्य उपकरणों द्वारा उसका रूपायण।

इसी प्रकार वाणी के सौन्दर्य के विषय में भी कई स्थलों पर संकेत मिलते हैं। एक स्थान पर उसके मधुराभिधान अर्थात् रमणीय अर्थ की प्रशंसा की गयी है: **उवाचं वाक्यं मधुराभिधानम्** (अनु० प० ११-५), तो अन्यत्र उसे कामधेनु कहा गया है: **अहं वै कामधुक् तुभ्यमिति तां आह वागथ।** (आश्वमेधिक पर्व २१-१५)। वाणी मन से भी अधिक गौरवशालिनी है क्योंकि वाणी के द्वारा ही मन का सूक्ष्म विचार-जगत् में प्रवेश होता है:

यत्तु तं विषयं गच्छेन्मंत्रो वर्णः स्वरोऽपि वा।
तन्मनो जंगमो नाम तस्मादपि गरीयसी॥ (आश्व० प० २१-१६)

वही गौ के समान उत्तम रस का प्रस्रवण करती है: **गौरिव प्रसवत्ययनि रसमुत्तम-शालिनी।** (आश्व० प० २१-२२)। ये उद्धरण काव्यकला के विषय में निम्नोक्त तथ्यों का प्रकाशन करते हैं:

१. वाणी में मधुर अर्थ को वहन करने की क्षमता है।
२. वह सूक्ष्म अर्थ को रूपायित कर उसे मनोगोचर बना देती है।
३. उसके द्वारा जीवन में अभीष्ट अर्थों की सिद्धि होती है और
४. वह श्रोता के चित्त में इष्टार्थ तथा उत्तम रस का संचार करती है।

गीता के 'विराट्रूप प्रसंग' में हमें प्रकारान्तर से सौन्दर्यशास्त्र के एक मौलिक सिद्धान्त का संकेत मिलता है। अर्जुन जब भगवान् से अपना विराट् रूप दिखाने की प्रार्थना करता है:

दृष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम। (भीष्मपर्व ३५-३)

तो वे अनन्त ऐश्वर्यमय विश्वरूप का प्रदर्शन करते हैं जो अनेक मुखों और नेत्रों से युक्त, असंख्य अद्भुत दृश्यों से परिपूर्ण, अनेक दिव्य आभूषणों और शस्त्रास्त्रों से मंडित दिव्य मालाओं-वस्त्रों से सुसज्जित, दिव्य गन्धों के अनुलेप से युक्त, सर्व-आश्चर्यमय, विश्वतोभिमुख, अनन्त और असीम तथा सहस्त्रों सूर्यों के प्रकाश से अधिक भास्वर था। यह अदृष्टपूर्व रूप अर्जुन के लिए असह्य हो गया

और उसका चित्त भय से व्याकुल हो गया। उसने प्रार्थना की कि मैं आपका वही प्रिय परिचित रूप फिर देखना चाहता हूँ, और अंत में, भगवान् के सौम्य-शांत मानुष रूप को देखकर ही उसकी चेतना समीकृत—अर्थात् चित्त स्थिर हुआ :

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।। (भीष्मपर्व ३५-५१)

इसका निष्कर्ष यह है कि सौन्दर्य की अनुभूति के लिए पदार्थ के गोचर रूप के साथ प्रमाता की ऐन्द्रिय चेतना का सामंजस्य और उसके फलस्वरूप चित्तवृत्ति का समीकरण आवश्यक है। यह ठीक है कि कला अथवा सौन्दर्य की अनुभूति सामान्य ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न होती है; इसीलिए पाश्चात्य मनीषियों ने असाधारणता और भारतीय चिन्तकों ने लोकातिक्रान्तगोचरता को सौन्दर्य का एक लक्षण माना है। परन्तु इसकी एक मनोवैज्ञानिक सीमा होती है। पदार्थ का गोचर रूप जब इंद्रियों की ग्रहण-शक्ति का अतिक्रमण कर जाता है, तो सामंजस्य भंग हो जाने से चित्त की समाहिति नष्ट हो जाती है। और, चित्त की यह विकलता ही कलानुभूति की सबसे बड़ी बाधा है। गीता का यह 'विराट्-रूप-प्रसंग' दर्शन के अनेक मौलिक तत्त्वों—अद्वैत तत्त्व तथा सर्वात्मवाद आदि की प्रतिष्ठा करता है, इसमें संदेह नहीं; किन्तु इससे कला के एक अमर सत्य का, प्रकारान्तर से ही सही, उद्घाटन होता है, इसमें भी संदेह के लिए अवकाश नहीं होना चाहिए।

अभिजात संस्कृत-काव्य में सौन्दर्य-विवेचन

संस्कृत कवियों का सौन्दर्य-वर्णन तो उनके गौरव के अनुरूप अत्यंत समृद्ध एवं परिष्कृत है ही, उनका सौन्दर्य-विवेचन भी कारयित्री प्रतिभा के उन्मेष के कारण अत्यन्त मार्मिक बन गया है। इनमें मूर्धन्य हैं कालिदास, जो मूलतः सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर कलात्मक सौन्दर्य के स्वरूप, सृजन-प्रक्रिया एवं आस्वाद आदि का मार्मिक विवेचन किया है। सौन्दर्य का आकर्षण वास्तव में नैसर्गिक ही होता है—वह अलंकार पर निर्भर नहीं करता :

किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् (अभिज्ञानशाकुन्तलम् १, १८)
—का न बिभूसन होइ जो रूप लिख्यो बिधि भाल !

कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि में मानसी कल्पना का प्राधान्य रहता है—इस तथ्य को कालिदास के अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है :

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्चतस्याः ।।

—क्या विधाता ने पहले चित्र में उरेह कर फिर उसमें प्राण का संचार किया है, अथवा रूपों के समुच्चय से मन के द्वारा उसकी सृष्टि की है ? जब मैं विधाता की क्षमता और उसकी रूपाकृति के विषय में विचार करता हूँ, तो वह मुझे एक विलक्षण स्त्री-रत्न प्रतीत होती है। (अ० शा० २ । ६) उनके काव्य में चित्र, मूर्ति आदि कलाओं के विषय में प्रचुर संकेत मिलते हैं। सृजनशील कलाकार एक ओर जहाँ यथार्थ चित्रण में दक्ष होता है :

अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता । जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति ।

[अर्थात्, अहा राजर्षि वर्तिका के प्रयोग में कितने निपुण हैं। ऐसा लगता है मानो सखी मेरे सामने ही उपस्थित है (अभिज्ञानशाकुन्तलम्) ।—वहाँ भावगम्य चित्रण में भी वह उतना ही सिद्धहस्त होता है :

यत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती···अथवा (मेरी प्रिया) मेरे विरहक्षीण रूप का चित्रण करती हुई (तुम्हें मिलेगी) (मेघदूत) ।

सौन्दर्य का संबंध रचना की अपेक्षा व्यंजना पर अधिक निर्भर करता है—कलादर्शन के इस रहस्य का कालिदास ने अत्यन्त निपुणता के साथ निम्नोक्त पंक्ति में उद्घाटन किया है :

यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ।। (अभि०)

—चित्र में जो कुछ ठीक नहीं था, उसका मैंने संशोधन कर दिया है, फिर भी उसका लावण्य रेखाओं के माध्यम से यत्किंचित् ही व्यक्त हो पाया है। सौन्दर्य के प्रभाव के विषय में कालिदास का स्पष्ट मत है कि वह चेतना का परिष्कार अथवा उन्नयन करता है :

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः (कु० सं० ५)

पापवृत्ति की ओर उन्मुख होने वाला या करने वाला रूप वस्तुतः रूप है ही नहीं। कारयित्री प्रतिभा के आवेश से शोक भी श्लोक में परिणत हो जाता है, अर्थात् जो असुन्दर और क्लेशकर है वह सुन्दर तथा प्रीतिकर बन जाता है :

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।
(रघुवंश १४.७०)

बाण की कृतियों में विविध वर्णों से भास्वर चित्रों का अपूर्व संकलन मिलता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अत्यन्त उच्छ्वसित वाणी में इन चित्रों की वर्णच्छटा का स्तवन किया है। कादम्बरी तथा हर्षचरित में चित्रों के विविध भेदों, रचना-प्रक्रिया आदि के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं।

भवभूति मूलतः भावना के कलाकार हैं। उनके द्वारा अंकित भौतिक सौन्दर्य के चित्र भव्य हैं, इसमें सन्देह नहीं; किंतु उनकी प्रतिभा वास्तव में भाव-सौन्दर्य के अंकन में ही अधिक रमती है। करुणरस के महत्त्व के विषय में उनका यह प्रसिद्ध उद्धरण—**एको रसः करुण एव** वास्तव में हृदय-सौन्दर्य अथवा भाव-सौन्दर्य का ही कीर्तन है। इसका वास्तविक अर्थ यही है कि मानवीय भावना रस अर्थात् काव्य-सौन्दर्य का मूल आधार है।

माघ ने सौन्दर्य को चिर-नवीन आकर्षण का पर्याय माना है:

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।—उनकी यह सूक्ति आज भी सौन्दर्य के लक्षण-रूप में प्रचलित है।

इसी प्रकार श्री हर्ष आदि अन्य कवियों की रचनाओं में भी सौन्दर्य-विषयक संकेत यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं।

भारतीय दर्शन में सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्वों की मीमांसा

पश्चिम में सौन्दर्यशास्त्र को दर्शन के एक अंग-रूप में स्वीकार किया गया है। अतः वहाँ दार्शनिक चिंतन के अन्तर्गत सौन्दर्य-चिंतन की परम्परा आरम्भ से ही रही है: प्लेटो ने तत्त्व-चिंतन की परिधि में सौन्दर्य का विवेचन भी किया है। किन्तु भारतीय दर्शन के अन्तर्गत इसका प्रावधान नहीं है: ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि ही उसके प्रतिपाद्य विषय हैं—सौन्दर्य नहीं। भारतीय चिंतक प्रकृति तथा मानव के सौन्दर्य से कितना अधिक प्रभावित था, इसके प्रमाण वेद की ऋचाओं में स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं। आत्मा अथवा सत्य के सौन्दर्य का साक्षात्कार भी उसने किया था जिसकी अभिव्यक्ति उपनिषद् के आनन्दवाद में हुई है। परन्तु यह सब होने पर भी सौन्दर्य भारतीय दर्शन का स्वतंत्र प्रतिपाद्य विषय नहीं रहा: सौन्दर्य का भावात्मक रूप आनन्द ही चिंतन का केन्द्र-बिन्दु रहा, उसका वस्तु-रूप नहीं।

अतः भारतीय दर्शन में सौन्दर्य-विषयक कुछ स्फुट तथा अप्रत्यक्ष संकेत मात्र ही मिलते हैं, प्रत्यक्ष विवेचन कहीं नहीं है। षड्दर्शन के अन्तर्गत मीमांसा और वैशेषिक में इस प्रकार की कुछ भी सामग्री नहीं मिलती। योग-दर्शन में 'संस्कार' के स्वरूप-निर्णय में रस-सिद्धांत के 'स्थायिभाव'-

विवेचन से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं। योगदर्शन में वृत्तियों और संस्कारों के निरंतर चक्र की कल्पना की गयी है। चित्त में नाना वृत्तियों का उदय और क्षय होता रहता है। वृत्तियों का रूप स्थूल होता है और संस्कार का सूक्ष्म। वृत्तियाँ क्षीण होकर संस्कार बन जाती हैं और अवचेतन मानस में बस जाती हैं। अनुकूल परिस्थिति अथवा कारण के उपस्थित होते ही संस्कार रूप में विद्यमान ये अव्यक्त वृत्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं। इस प्रकार मानव-चेतना में प्रेम, भय, क्रोध, शोक आदि—समस्त चित्तवृत्तियाँ संस्कार-रूप में विद्यमान रहती हैं जो उचित कारण के उपस्थित होते ही प्रकट हो जाती हैं। रस-सिद्धांत में विभाव और स्थायिभाव के सम्बन्ध की कल्पना का मूल आधार यही है और भाव-सौन्दर्य अथवा भाव के आस्वादन-रूप सौन्दर्य की कल्पना में इसका योगदान सर्वथा स्पष्ट है।

योग-दर्शन में प्रतिपादित 'प्रज्ञा' के स्वरूप को भी भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के मनीषियों ने प्रतिभा के विवेचन में ग्रहण किया है। योग-दर्शन के अनुसार प्रज्ञा का लक्षण इस प्रकार है :

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्म-बन्धनानि श्लथयति, निरोधाभिमुखं करोति, स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।

(योगभाष्य १।१)

अर्थात् प्रज्ञा १. एकाग्रचित्त में सदर्थ को प्रकाशित करती है, २. क्लेश का क्षय करती है, ३. कर्म-बंधन को शिथिल करती है और ४. चित्त को निरोध—समाहिति की ओर उन्मुख करती है—आगे चलकर रुद्रट, भट्टतोत, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट आदि ने इसी के आधार पर प्रतिभा के स्वरूप का विवेचन किया है :

१. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

(रुद्रट—काव्यालंकार १। १५)

—शक्ति उसे कहते हैं जिसके द्वारा स्वस्थ चित्त में निरन्तर अनेक प्रकार के अर्थ स्फुरित होते हैं और अक्लिष्ट अर्थात् शीघ्र ही अर्थ प्रतिपादन में समर्थ पदों का प्रस्फुटन होता है।

२. रसानुगुणशब्दार्थचिंतास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥

(व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १०८)

—जब कवि का चित्त रसानुकूल शब्द-अर्थ के चिंतन में एकाग्र हो जाता है, उस समय क्षण भर के लिए पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करते हुए उसकी जो प्रज्ञा स्फुरित होती है, उसी का नाम प्रतिभा है।

न्यायदर्शन में ज्ञान और प्रमा के भेदों का विवेचन करते हुए गौतम ने स्मृति तथा उपमिति आदि के प्रसंगों में भारतीय सौन्दर्य-चिंतकों के लिए कुछ उपयोगी संकेत दिये हैं। उन्होंने ज्ञान के दो भेद किये हैं : स्मृति और अनुभव। स्मृति ज्ञान का वह रूप है जो संस्कार से उत्पन्न होता है। अनुभूत पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी उससे उत्पन्न भावना-रूप संस्कार प्रमाता के चित्त में बस जाता है। समान वस्तु के सम्पर्क से यह संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है और पूर्व-अनुभूत पदार्थ प्रमाता की चेतना में फिर उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान का नाम ही स्मृति है। सौन्दर्य की सृष्टि तथा अनुभूति—दोनों में स्मृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग है, इसमें सन्देह नहीं। कला के स्रष्टा और भोक्ता दोनों ही पूर्वानुभूत पदार्थ की भावना के आधार पर ही अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। बिम्ब-विधान और बिम्ब-ग्रहण का रहस्य इसी में निहित है।

न्याय में प्रमा के चार भेद माने गये हैं : प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। इनमें से सादृश्य-ज्ञान पर आश्रित अनुभव उपमिति कहलाता है। आगे चलकर चित्र, मूर्ति आदि के विवेचन में और काव्य में सादृश्य-मूलक अप्रस्तुत-विधान की परिकल्पना में इसका उपयोग किया गया है। सांख्य में पंचतन्मात्राओं के अन्तर्गत 'रूप' का विवेचन हुआ है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का अपना-अपना विषय है : नेत्र का विषय है रूप। किसी पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर हमारी चेतना चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से पदार्थ का जो बिम्ब ग्रहण करती है, उसी का नाम 'रूप' है। यह रूप वस्तु का मानस-प्रत्यक्ष है। आगे चलकर सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में 'रूप' का विशेष अर्थ और महत्त्व हुआ और वह मूर्त अभिव्यक्ति का पर्याय बनकर एक प्रकार से सौन्दर्य का अथवा सौन्दर्य के वस्तु-रूप का पर्याय हो गया। सौन्दर्यशास्त्र में रूप का अर्थ बहुत कुछ विशेषीकृत हो गया—इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसका मूल आधार वही रहा, जिसका कि निर्वचन सांख्य में हुआ है। सांख्य के सत्कार्यवाद सिद्धान्त में 'रूप' का यह स्वरूप और भी स्पष्ट होकर सामने आता है। सांख्य के अनुसार प्रकृति अपने तत्त्व-रूप में तो सत् है ही, परिणाम-रूप में भी वह सत् है—अर्थात् सृष्टि के नाना रूप भी सत् हैं क्योंकि उनकी सत्ता भी उस अव्यक्त, मूल प्रकृति में ही रहती है। स्वर्ण सत् है और स्वर्ण से निर्मित आभूषण के नाना रूप भी उतने ही सत् हैं। विभिन्न आभूषण स्वर्ण के विवर्त न होकर उसके परिणामी रूप हैं अतः उनकी

अपनी वास्तविक सत्ता है। इस प्रकार 'रूप' पदार्थ का विकार-मात्र नहीं है, उसका परिणाम है और इस दृष्टि से उसका महत्त्व पदार्थ से कम नहीं है, वरन् अधिक ही है, क्योंकि अन्ततः वास्तविक सत्ता उसी की है।

वेदांत यद्यपि विश्व-सौन्दर्य को मिथ्या प्रपंच मानकर उसकी सत्ता का निषेध करता है, फिर भी यह सत्य है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की कतिपय महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं पर उसका गहरा प्रभाव है। वेदान्त में तीन प्रकार की सत्ता मानी गई है : १. प्रातिभासिक या प्रातीतिक, २. व्यावहारिक और ३. पारमार्थिक। प्रातिभासिक सत्ता वह सत्ता है जो प्रतीति के समय सत्य रूप में प्रतिभासित हो, परंतु बाद में बाधित हो जाए—जैसे शुक्ति में रजत की अथवा रज्जु में सर्प की सत्ता। शुक्ति वास्तव में रजत नहीं है, किन्तु प्रतीति के क्षणों में प्रमाता उसको रजत के रूप में ही ग्रहण करता है और उसी प्रकार आचरण करता है। रज्जु में उसकी तात्कालिक प्रतीति सर्प की ही होती है और यह प्रतीति इतनी स्पष्ट होती है कि वह भय-शंकादि भावों का वास्तव में अनुभव करने लगता है। कलात्मक सौन्दर्य की स्थिति भी मूलतः प्रातिभासिक अथवा प्रातीतिक ही होती है—व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं। उसका सार-तत्त्व सद्यःप्रतीति ही है। कलानुभूति का यह मूल रहस्य वेदान्त के सूत्रों से प्राप्त हुआ है :

रज्ज्वात्मनाऽवबोधात् प्राक् सर्पः सन्नेव भवति।
सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवद् जन्म युज्यते ॥

(माण्डूक्यकारिका ३।२७ भाष्य)

अद्वैत वेदांत का दूसरा प्रसिद्ध सिद्धान्त है अनिर्वचनीयतावाद जिसका भारतीय सौन्दर्यशास्त्र पर प्रभाव पड़ा है। इस मत में माया को सदसत्-विलक्षण—अनिर्वचनीय माना गया है। तत्त्वज्ञान होने पर जगत् की सत्ता नहीं रहती, अतः जगत् को सत् नहीं मानना चाहिए। किन्तु सामान्य जीव को उसकी प्रतीति अनिवार्यतः होती है, अतः उसे असत् भी कैसे माना जाए? इसलिए माया और उसकी सृष्टि-रूप जगत् न सत् है और न असत्—वह अनिर्वचनीय है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में अभिनवगुप्त, जगन्नाथ आदि ने कला-प्रतीति की इसी रूप में व्याख्या की है। नाटक देखते समय प्रेक्षक को जो प्रतीति होती है, वह न सत् होती है और न असत्—अर्थात् न तो वह यह अनुभव करता है कि रंगमंच पर उपस्थित पात्र दुष्यन्त-शकुन्तला ही हैं और न यही अनुभव करता है कि वे दुष्यन्त-शकुन्तला नहीं हैं। अतः कला-प्रतीति सदसत्-विलक्षण—अर्थात् अनिर्वचनीय होती है।

शैवदर्शन

षड्दर्शन की अपेक्षा भारतीय सौन्दर्य-चिंतन पर शैवदर्शन—विशेषकर उसके अंगभूत प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष और व्यापक है। इसका एक प्रबल ऐतिहासिक कारण है और वह यह कि भारतीय काव्यशास्त्र एवं कलाशास्त्र के प्रमुख आचार्यों की कर्मभूमि काश्मीर ही थी जहाँ प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का उद्भव एवं विकास हुआ था और भारतीय कलादर्शन के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य अभिनवगुप्त प्रत्यभिज्ञादर्शन के व्याख्याताओं में अन्यतम थे। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार शिव आत्मक्रीड़न की इच्छा से प्रेरित होकर अपनी मायाशक्ति से विश्व की रूप-रचना करते हैं। यह मायाशक्ति ही सिसृक्षा है अथवा यों कहें कि सिसृक्षा का सक्रिय रूप है। यही नानारूप, चित्र-विचित्र विश्व की सृष्टि करती है : **मायाशक्तिकृतपूर्णस्वरूपाख्यातिमयचित्र-कार्यतापन्नस्वरूपप्रसरणरसात् प्रभोः।** (उत्पलाचार्य : शिवदृष्टि-वृत्ति, पृष्ठ १३)। केवल शिव अहं मात्र हैं—केवल प्रकाश या चिद्रूप। यह प्रकाश या संविद् अवस्था आत्मा की स्वरूप-विश्रान्ति की अवस्था है : यही आनन्द या रस है, शिव का द्रवीभूत रूप। शक्ति का संयोग होने से, विमर्श की अवस्था में पहुँच कर यह रस घनीभूत होकर विश्व का रूप धारण कर लेता है : **ततः चिद्रसाश्यानतारूपाशेषतत्त्व-भुवन-भाव-तत्तत्प्रमात्राद्यात्मतयापि प्रथते।** (प्रत्य-भिज्ञाहृदयम् का० ४ वृत्ति)। इस प्रकार सर्जना का अर्थ है आत्म-परामर्श-जन्य आनन्द की रूपायिति अथवा मूर्त अभिव्यक्ति। इसी मायाशक्ति को शैवागमों में काम-कला कहा गया है : शिव ही काम हैं और शक्ति कला है। श्री पुण्यानन्द ने अपने ग्रंथ 'कामकला-विलास' में सृष्टि के इसी रहस्य की विवृति की है। आगे चलकर काव्य तथा कला के संदर्भ में सिसृक्षा अथवा सृजन-प्रेरणा के स्वरूप की व्याख्या इसी रूप में हुई और यही सूत्र रस-प्रसंग में विभावन-व्यापार का आधार बना।

शैवदर्शन में कला को छत्तीस तत्त्वों में से एक तत्त्व मानकर उसकी विशद व्याख्या की गयी है। उसे **किंचित्कर्तृत्वलक्षणा** अर्थात् आत्मा की संकुचित कर्तृत्वशक्ति माना गया है : वह आत्म-चैतन्य को प्रमाता में तथा नाना पदार्थों में परिमित रूप में प्रकट करती है, इसलिए उसका नाम कला है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मौलिक परिभाषा आज भी कलाशास्त्र में यथावत् ग्राह्य है; कला मूलतः आत्माभिव्यक्ति है, और आत्म की यह अभिव्यक्ति सदा परिमित या अपूर्ण ही रहती है क्योंकि अभिव्यक्ति के माध्यम-उपकरण चैतन्य वृत्ति की तुलना में सदा अपूर्ण ही होते हैं। कला के ये मौलिक सिद्धान्त शैव-दर्शन में अत्यन्त प्रामाणिक रीति से प्रतिपादित किये गये हैं।

भारतीय कलाओं पर शैवदर्शन का प्रभाव आरंभ से ही लक्षित होता है—संगीत, मूर्ति, चित्र और वास्तु कलाओं को भगवान् शिव की प्रकल्पना से ही सबसे अधिक प्रेरणा मिली है। उधर नाट्यकला का सम्बन्ध भी शैवमत के साथ आरम्भ से रहा है। शैवदर्शन में विश्व की कल्पना नाट्यरूप में बार-बार की गयी है :

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः॥

अर्थात् त्रैलोक्य (रूप नाटक) का निर्माण करने वाले महाकवि शंकर को नमस्कार है क्योंकि संसार के लोग प्रतिक्षण (उनके विरचित) इस जगत् रूप नाटक के प्रयोग में रसास्वादन का अनुभव करते हैं।

प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि नर्त्तक आत्मा—अर्थात् आत्मा अथवा परम शिव नट के समान है और इन्द्रियाँ—अर्थात् जीव की पार्थिव चेतना प्रेक्षकों के समान है। जिस प्रकार नट अपने स्वरूप का त्याग किये बिना नाना रूप भरता है, इसी प्रकार शिव अपने स्वरूप का त्याग किये बिना नानारूप विश्व में परिणत हो जाते हैं :

तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके।
बिभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः॥
आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथंचन।
मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशतत्त्वरूपता।
बिभ्रद् बिभर्ति रूपाणि तावता व्यवहारतः।
यावत्स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घटः।

(शिवदृष्टि, प्रथम आह्निक, कारिका २९-३३)

उपर्युक्त उद्धरणों में नाट्य-कला—विशेषतः अभिनय-कला के एक मौलिक सिद्धांत के बीज मिलते हैं। अभिनेता की कला का रहस्य यह है कि वह शक्ति, निपुणता और अभ्यास के द्वारा अपने व्यक्तित्व का तिरोभाव किये बिना अनेक रूप धारण कर लेता है : वह विभिन्न चरित्रों के साथ तादात्म्य कर लेता है, किन्तु अपने व्यक्तित्व का त्याग नहीं करता—यही उसका कर्तृत्व है और यही उसकी कला है। इस **अत्यक्तस्वावलम्बनत्व** के कारण ही वह शिवकल्प है :

"भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा' परमात्मना 'यदुदाहृतं' अविद्या-विरचित-निस्सारभेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यम्। वद्वक्ष्यामि। यथा हि कल्पना-मात्रसारं तत एवानस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्रसहं स्वप्नादिविलक्षणमपि

सुष्ठुतरां हृदयग्रहनिदानं, अत्यक्तस्वावलम्बनब्रह्मकल्पनटोपरचितं रामरावणादि-चेष्टितं असत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्या भाति ।" अर्थात्—भट्टनायक तो (इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—) ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ने जिसको उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया अर्थात् अविद्याकल्पित निस्सार (जगद् रूप) भेद के ग्रहण करने में जिसको उदाहरण बनाया है वह नाट्य है। उसका मैं वर्णन करूँगा । (इसका अभिप्राय यह है कि—) जैसे (नाटक में राम-रावण आदि का चरित्र) केवल कल्पनात्मक, इसीलिए एक रूप से स्थिर न रहने वाला, क्षणभर में सैकड़ों सहस्रों परिवर्तनों को सहन करने वाला, तथा स्वावलम्बन करने वाले ब्रह्म सदृश नट के द्वारा प्रस्तुत किया गया, राम-रावण आदि का व्यापार किसी अद्भुत रूप से प्रतीत होता है ।[1]

भारतीय रस-सिद्धांत का तो मूल प्रेरणा-स्रोत ही शैवाद्वैत दर्शन है । परममाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य और उनके पूर्ववर्ती भट्टनायक ने रस के स्वरूप की व्याख्या प्रत्यभिज्ञादर्शन के आधार पर प्रायः उसी की शब्दावली में की है । अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि उनके रस-विवेचन का आधार शैवाद्वैत सिद्धांत ही है जिसका प्रतिपादन उन्होंने तंत्रालोक में किया है : **तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वम् परमेश्वराद्वयम् ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रानुसरणेन विदितम् तन्त्रालोकग्रन्थे विचारत्येत्यास्ताम् ।** (ध्वन्यालोकलोचन···) । इनके अनुसार काव्यादि के माध्यम से संविद्विश्रांति अथवा आत्म-परामर्श का ही नाम रस है । यह अवधारणा और इसकी शब्दावली शैवदर्शन से सीधे ग्रहण की गयी है । अभिनवगुप्त ने अपने प्रसिद्ध दर्शन-ग्रंथ 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी'—भाग-२ में आनन्द की परिभाषा करते हुए उसके तीन स्तरों का उल्लेख किया है । उनके मत से आनन्द प्रत्येक स्थिति में आत्मपरामर्श का ही नाम है । यह आत्मपरामर्श प्रायः तीन स्तरों पर सम्पन्न होता है : १. भौतिक अर्थात् विषय-भोग के स्तर पर, २. काव्य-नाट्य आदि के स्तर पर और ३. शुद्ध आध्यात्मिक स्तर पर । भौतिक स्तर पर प्रमाता विषयों के माध्यम से, आत्मपरामर्श लाभ करता है : चूँकि विषय अचिर हैं, अतः यह आत्मपरा-मर्श भी अचिर ही होता है। एक वासना की तृप्ति दूसरी वासना को जन्म देती है और इस प्रकार चिर-तृष्णा के भँवर-जाल में फँसकर प्रमाता की संविद्विश्रांति अन्ततः पूर्णतया नष्ट हो जाती है । इसीलिए विषयानंद को हेय माना गया है । काव्यजन्य आत्म-परामर्श में विषयों का प्रत्यक्ष व्यवधान नहीं रहता, फिर भी उनके संस्कारों का अनुवेध यहाँ निश्चय ही रहता है, अतः यह

१. अभिनवभारती, भाग १, अध्याय १, कारिका १, पृष्ठ ३५

भी अचिर ही है। विषयानन्द की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म-परिष्कृत होने पर भी यह अस्थायी और अपूर्ण है—अर्थात् पूर्ण और स्थायी संविद्विश्रांति का लाभ प्रमाता को यहाँ भी नहीं होता। इस प्रकार आत्मानन्द ही वास्तविक आत्म-परामर्श है जो सभी प्रकार के व्यवधानों से मुक्त, चिरस्थायी और परिपूर्ण होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ही संस्कृत काव्यशास्त्र में रस को संविद्विश्रांति अथवा आत्मपरामर्श का वह प्रकार-विशेष माना गया जिसमें भाव-संस्कार का अनुवेध रहता है। अभिनवगुप्त ने उसे 'भग्नावरणचिद्विशिष्ट स्थायी भाव' कहा है और पण्डितराज जगन्नाथ ने दार्शनिक दृष्टि से अभिनव-गुप्त के सूत्र का संशोधन करते हुए उसे 'रत्यादि स्थायी भावों से अविच्छिन्न भग्नावरण चित्' कहा है। अभिनव के बाद भी प्रत्यभिज्ञादर्शन की शब्दावली 'स्वप्रकाशानन्द' 'विगलितवेद्यान्तर' आदि का प्रयोग रस-स्वरूप के निर्वचन में निरंतर होता रहा। तुलना कीजिए :

१. विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाह्यमेव पश्यति— (क्षेमराज)

२. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेवरसास्वादनसमद्भूतं विगलित-वेद्यान्तरमानन्दम्। (मम्मट)

१. प्रकाशस्य आत्मविश्रांतिरहंभावो हि कीर्तितः। (उत्पलाचार्य)

२. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः। (विश्वनाथ)

भक्ति-साहित्य में सौन्दर्य-विवेचन

भक्ति-साहित्य में भगवान् के दिव्य सौन्दर्य का, नाना भंगिमाओं में अपूर्व वर्णन किया गया है, किन्तु उसका स्वरूप-विवेचन बहुत कम है। शांकर वेदांत में प्रतिपादित निर्विकल्प ब्रह्म की धारणा ने और उधर बौद्धमत के शून्य-वाद ने, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर, भारतीय सौंदर्य-कल्पना के विकास में जो व्याघात उपस्थित कर दिया था, वैष्णव आचार्यों की सगुण-भावना ने उसका बहुत-कुछ परिहार कर दिया। वेद और उपनिषद् में परोक्ष सत्ता के दिव्य-सौन्दर्य का उसके मधुर-विराट् रूप और स्वर्णिम आभा का जो उद्गीथ किया गया है, वह अत्यन्त मार्मिक होने पर भी प्रायः अमूर्त और अगोचर ही है। वैष्णव आचार्यों ने भगवान् के सौन्दर्य को गोचर रूप में प्रस्तुत किया है। दार्शनिक का ब्रह्म अगोचर धारणा रूप है, भक्त का भगवान् गोचर बिम्ब रूप है। यहाँ भगवान् के दो रूपों की कल्पना की गई है : ऐश्वर्य रूप और माधुर्य रूप। ऐश्वर्य रूप में भगवान् की अनन्त शक्ति और विभूतियों का वर्णन है

और माधुर्य रूप में उनके अनुरंजक सौन्दर्य का। कठिनाई किन्तु यह है कि भक्ति-साहित्य में प्रायः इसका वर्णन ही किया गया है। उसमें दिव्य सौन्दर्य के प्रति भक्त की भावना का विवेचन तो विस्तार के साथ हुआ है, किन्तु भावना के विषयभूत उस दिव्य सौन्दर्य का विवेचन अत्यन्त विरल है।

भक्ति का आकर ग्रंथ है श्रीमद्भागवत, जिसका रचना-काल प्रायः नवीं शताब्दी माना जाता है। भागवत में सौन्दर्य का अनेक रूपों में वर्णन किया गया है—दशम स्कन्ध में प्राकृतिक सौन्दर्य का, भगवान् की दिव्य छवि का, मानव के रूपाकर्षण का, रासक्रीड़ा के अन्तर्गत गीत-नृत्य आदि कलाओं के सौन्दर्य का अपूर्व उल्लास बिखरा पड़ा है। भागवत में भगवान् के सौन्दर्य की त्रैलोक्य के सौभाग्य-रूप में कल्पना की गयी है :

१. त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्। १०–२६–४० (उत्तरार्द्ध)

त्रैलोक्य के सौभाग्य-रूप उस सौन्दर्य को देखकर गोवृन्द, पक्षिगण और मृगयूथ पुलकित हो उठे।

२. तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो,
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपी परिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्। १०-२९-१४

—योगेश्वरों के हृदय में विराजमान् वह अनन्त ऐश्वर्यमय भगवान् वहाँ बैठ गये, और त्रैलोक्य की श्री-सम्पदा से युक्त शरीर धारण किए हुए, गोपियों की सभा में, उनके द्वारा सेवित और अर्चित होकर अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुए।

इस प्रकार भक्ति-साहित्य में भगवान् के त्रैलोक्य-सुन्दर स्वरूप की कल्पना की गयी है। वेद-उपनिषद् में भी ईश्वर के स्वरूप को विश्व-सौन्दर्य का प्रतीक एवं मूल उद्गम माना गया है, किन्तु वह सौन्दर्य अमूर्त है—प्रतीकात्मक है। सगुण-भक्ति में इसी दिव्य सौन्दर्य को गोचर और मानवीय रूप प्रदान किया गया है। यह दिव्य सौन्दर्य विश्व-सौन्दर्य का सार-सर्वस्व है, किन्तु साथ ही गोचर और मानवीय भी है।—दिव्य सौंदर्य की यह सगुण कल्पना भारतीय सौंदर्यशास्त्र के विकास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

इसके अतिरिक्त, श्रीमद्भागवत में प्रकृति के सौंदर्य तथा नृत्य-गीत कला एवं उसके प्रभाव के अत्यन्त सरस वर्णन भी यथास्थान मिलते हैं :

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ।।
दृष्टवा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरंजितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ।।
निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ।।

भागवत, दशम स्कन्ध, ६-२।४

भगवान् के संकल्प करते ही चन्द्रदेव ने प्राची दिशा के मुखमण्डल पर अपने शीतल किरण-रूपी कर-कमलों से लालिमा की रोली-केशर मल दी जैसे बहुत दिनों के बाद अपनी प्राणप्रिया पत्नी के पास उसके प्रियतम पति ने उसे आनन्दित करने के लिए ऐसा किया हो। इस प्रकार चन्द्रदेव ने उदय होकर न केवल पूर्व दिशा का, प्रत्युत संसार के समस्त चर-अचर प्राणियों का संताप—जो दिन के शरद्कालीन प्रखर सूर्य-रश्मियों के कारण बढ़ गया था—दूर कर दिया था। उस दिन चन्द्रदेव का मण्डल अखण्ड था। पूर्णिमा की रात्रि थी। वे नूतन केशर के समान लाल-लाल हो रहे थे, कुछ संकोच-मिश्रित अभिलाषा से युक्त जान पड़ते थे। उनका मुखमण्डल लक्ष्मी जी के समान मालूम हो रहा था। उनकी कोमल किरणों से सारा वन अनुराग के रंग में रंग गया था। वन के कोने-कोने में उन्होंने अपनी चाँदनी के द्वारा अमृत का समुद्र उंडेल दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य उज्ज्वल रस के उद्दीपन की पूरी सामग्री उन्हें और उस वन को देखकर अपनी बाँसुरी पर ब्रजसुन्दरियों के मन को हरण करने वाली कामबीज 'क्लीं' की अस्पष्ट एवं मधुर तान छेड़ी। भगवान् का यह वंशीवादन भगवान् के प्रेम को, उनके मिलन की लालसा को अत्यंत उकसाने वाला—बढ़ाने वाला था। यों तो श्यामसुन्दर ने पहले से ही गोपियों के मन को अपने वश में कर रखा था। अब तो उनके मन की सारी वस्तुएँ—भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा आदि की वृत्तियाँ भी—छीन लीं। वंशीध्वनि सुनते ही उनकी विचित्र गति हो गई। उन्होंने एक साथ साधना की थी श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए, वे गोपियाँ भी एक-दूसरे को सूचना न देकर—यहाँ तक कि एक-दूसरे से अपनी चेष्टा को छिपाकर जहाँ वे थे, वहाँ के लिए चल पड़ीं। वे इतने वेग से चलीं कि उनके कानों के कुण्डल झोंके खा रहे थे।

उपर्युक्त उद्धरण का विश्लेषण करने पर निम्नोक्त तथ्य उभर कर आते हैं :

१. दिव्य सौंदर्य विश्व-सौंदर्य का सार-सर्वस्व है।

२. सौंदर्य का काम-चेतना के साथ अंतरंग सम्बंध है। किंतु यह काम-भावना मृण्मय न होकर चिन्मय होती है—अर्थात् आत्मा की ह्लादिनी शक्ति ही दिव्य सौंदर्य का आस्वादन करती है।
३. प्रकृति का सौंदर्य इस चिन्मय रति का उद्दीपक है क्योंकि वह चिन्मय रति के विषयभूत—भगवान् के सौंदर्य से मूलतः अभिन्न है।
४. गीत-नृत्यादि का सौंदर्य चिन्मय रति का प्रेरक है।

भागवतकार ने कुछ स्थलों पर वाणी के सौंदर्य की भी चर्चा की है:

(क) **ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।**
अवदद्वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥ १४-२६-१७

—उन व्रजयुवतियों को समीप उपस्थित देखकर वक्ताओं में श्रेष्ठ भगवान, वाक्सौंदर्य के द्वारा उन्हें मोहित करते हुए, बोले।

'वाचः पेशैः' की व्याख्या करते हुए महाप्रभु ने लिखा है: **'वाचः पेशाः वाक्सौन्दर्ययुक्ताः शब्दाः'**। (श्री-सुबोधिनी चौ० सं० सी० १९७१, पृष्ठ ७३)

(ख) **मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।**
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः॥
१४-२८-८

—हे कमलनयन, हे वीर, आपकी सुन्दरवाक्ययुक्त बुधजनमनोहारी मधुर वाणी के द्वारा मोहित ये हम आपकी आज्ञाकारी दासियाँ हैं। हमें अधरामृत का पान करा, जीवनदान दीजिए।

इस छंद में वाणी के लिए, मधुर के अतिरिक्त, दो अन्य विशेषणों का प्रयोग हुआ है। **वल्गुवाक्य और बुधमनोज्ञ**। इनमें सुन्दर वाक्यरचना रीति का प्रमुख बहिरंग तत्त्व है और बुधमनोज्ञता—अर्थात् विदग्धजन के चित्त को आह्लादित करने की क्षमता उसका आंतरिक गुण है। भागवतकार ने उपर्युक्त श्लोक में रीतिशास्त्र में प्रतिपादित शब्दार्थ-सौंदर्य के इन्हीं दो मूल तत्त्वों की ओर मार्मिक संकेत किया है।

भारतीय भक्ति-पद्धति का विकास-प्रसार काल ११वीं शती के मध्य से १७वीं शती के मध्य तक व्याप्त है। इस कालावधि में भक्ति-साधना के पाँच प्रमुख सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ: रामानुज अथवा श्री-सम्प्रदाय, माध्व-सम्प्रदाय, निम्बार्क-संप्रदाय, वल्लभ-संप्रदाय और चैतन्य अथवा गौड़ीय संप्रदाय। इनमें रामानुज तथा मध्व ने भगवान् के ऐश्वर्य रूप पर—उनकी विभूतियों पर अधिक बल दिया—और निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य ने उनके माधुर्य रूप पर। रामानुज के मतानुसार ईश्वर पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा-

वतार पपों को धारण करता है। यद्यपि रामानुज सम्प्रदाय और माध्व सम्प्रदाय—दोनों में, तत्त्व-मीमांसा का ही प्राधान्य है जिसमें सौंदर्य-दर्शन के लिए विशेष अवकाश नहीं है, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि रामानुज की उपर्युक्त स्थापना भगवान् के उस भव्य स्वरूप की कल्पना का मूल आधार है जो सहस्राब्दों तक भारतीय काव्य तथा मूर्ति-चित्र कलाओं की उदात्त कल्पनाओं को प्रेरित करता रहा है। स्वामी रामानुज के श्रीभाष्य आदि और मध्वाचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य आदि प्रसिद्ध ग्रंथों में सौंदर्य-चिंतन का प्रायः अभाव ही है। इन दोनों आचार्यों के चिंतन का विषय मूलतः विष्णु-तत्त्व अर्थात् विष्णु का तात्त्विक रूप है, अतः भगवान् के गोचर स्वरूप का विवेचन इनमें नहीं है। ब्रह्म के चिदचिद्विशिष्ट रूप की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर रामानुजाचार्य ने लिखा है: **'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय' इत्यचित्संसर्गरहितस्य स्वकामादेव विचित्रचिदचिद्वस्तुनस्सृष्टिः**······ (१-१ आनन्दमयाधिकरणम् १-११६)।—ब्रह्म ने यह कामना की कि मैं प्रजा के लिए अनेक रूप धारण करलूँ। अतः अचित् संदर्भ से रहित होने पर भी उससे चिदचित् जगत् की सृष्टि हुई। ईश्वर का यह रूप **प्रीयमाण** अर्थात् सुन्दर भी है और **महिमान** अर्थात् उदात्त भी:

> **अनीशया भोग्यभूतया प्रकृत्या मुह्यमानश्शोचति जीवः; अयं यदा स्वस्मादन्यं सर्वस्येशं प्रीयमाणम्, अस्य ईश्वरस्य महिमानं च निखिलजगन्नियमनरूपं पश्यति; तदा वीतशोको भवति।**
> (१-३ द्युम्वाद्यधिकरणम १-३-४)

मध्वाचार्य के साहित्य में भी इस प्रकार के संकेत अत्यन्त विरल हैं। उन्होंने भी उपनिषद् के ब्रह्मवाद का सगुण भाव से व्याख्यान किया है: ब्रह्म ही विष्णु अथवा नारायण है—वह अनिर्वचनीय सुखस्वरूप है, उसी के आलोक से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित है: **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** इति वचनाच्च परमात्मैवानिर्देश्यसुखरूपः। **"अहं तत्तेजो रश्मीत्" इति नारायणभासा हि सर्वं भाति**॥ १-३-६-२२।

निम्बार्क, वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु की उपासना-पद्धति में भगवान् के माधुर्य रूप का प्राधान्य था, अतएव स्वभावतः इनके साहित्य में सौन्दर्य-विवेचन की सम्भावना अधिक होनी चाहिए। किन्तु यहाँ भी कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। निम्बार्काचार्य के **'वेदान्त-पारिजात-सौरभ'** में और वल्लभाचार्य के **'अणुभाष्य'** में ब्रह्मसूत्र की द्वैतपरक व्याख्या है जिसमें ब्रह्म, जीव, जगत् आदि के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन है। इन भाष्यों में कहीं-कहीं दो-चार सूत्र इस प्रकार के मिल जाते हैं जिनमें सौन्दर्य-तत्त्व का

प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से संकेत है। उदाहरण के लिए—

१. ब्रह्मसूत्र—**"रूपोपन्यासाच्च"** (१-२-२४) की व्याख्या करते हुए निम्बार्काचार्य ने लिखा है : **अग्निमूर्द्धेत्यादिना परमात्मनो रूपोपन्यासाच्च नेतरौ**। —अर्थात् अग्नि उसका सिर है, इत्यादि वर्णन के द्वारा ब्रह्म के रूप-स्वरूप की कल्पना की गयी है।

२. **"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"** (२-१-३२) की व्याख्या इस प्रकार की गयी है : **परस्यैतद्रचनादिलोकप्रसिद्धनृत्यादिक्रीडामात्रमिव युज्यते**।—अर्थात् परब्रह्म सृष्टिरचनादि कार्य में उसी प्रकार केवल लीला भाव से, किसी विशिष्ट प्रयोजन के बिना प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार लोक में नृपति आदि क्रीड़ा में प्रवृत्त होते हैं।

३. आचार्य ने अपनी भक्तिपरक रचना '**कृष्णस्तवराज**' में भगवान् के मधुर रूप का स्तवन किया है। भगवान् का यह रूप—श्रीकृष्ण रूप अनन्त सौन्दर्य, अनन्त आनन्द और अनन्त माधुर्य का आगार है जो जीव के प्रति प्रेमभाव से युक्त है। वह परम शान्ति, परम कान्ति का आवास है—सुधानिधि है। (सविशेष-निर्विशेषकृष्णस्तवराज श्लोक सं० १)।

निम्बार्क के परवर्ती वल्लभाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य लिखा है। उन्होंने उपर्युक्त दोनों सूत्रों की व्याख्या में प्रस्तुत प्रसंग को कुछ और स्पष्ट किया है।

"रूपोपन्यासाच्च" का भाष्य करते हुए उन्होंने लिखा है : '**अग्निमूर्धा-चक्षुषी (मुं० २-१-४) इत्यादि रूपं न हि प्रकृतिपुरुषयोरन्यतरस्य संभवति। ब्रह्मवादे पुनर्विश्वकायस्यैतद्रूपम्**। (श्रीमदणुभाष्यम् १९२१ ई०—गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस बम्बई, पृष्ठ ६७)।—अर्थात् अग्नि उसका सिर है, चक्षु ·········' इत्यादि वाक्यों में वर्णित रूप की कल्पना प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त किसी अन्य के संदर्भ में संभव नहीं है। यह रूप वेद-उपनिषद् आदि में वर्णित विश्वकाय ब्रह्म का ही है।—इसी प्रकार **"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"** की व्याख्या में महाप्रभु ने मूल आशय को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है : **नहि लीलायां किंचित्-प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्**—अर्थात् लीला का कोई प्रयोजन नहीं होता। लीला स्वयं ही अपना प्रयोजन है। (पृ० १२८)

वास्तव में ये संकेत अधिक स्पष्ट नहीं हैं। सौन्दर्य-चिंतन का सम्बन्ध इनके साथ परोक्ष रूप में ही माना जा सकता है। फिर भी एक तथ्य अत्यन्त निर्विवाद है और वह यह कि भक्ति-सम्प्रदायों की सगुण-कल्पना का भारतीय सौन्दर्य-चिंतन पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। सगुण-कल्पना के तीन प्रमुख अंग हैं—रूप, लीला और प्रीति। भगवान् सरूप है और उसका यह रूप विश्व के सौन्दर्य का सार-सर्वस्व है, वह विश्व की रचना और संभरण

बिना किसी प्रयोजन के, लीला के रूप में करता है—अवतार धारण कर प्रत्यक्ष रूप में भी वह नर-लीला करता है। यह लीला ही ब्रह्म की कला है जिसमें वह आत्मानन्द के लिए, बिना किसी प्रत्यक्ष प्रयोजन के प्रवृत्त होता है :

स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता। (रासपंचाध्यायी, सुबोधिनी कारिका १, चौखम्बा प्रकाशन ७१, पृष्ठ १७४)। कला अथवा सौन्दर्य की सृष्टि का भी लक्षण यही है, वह भी एक ऐसी आनन्दमयी प्रक्रिया है जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रयोजन नहीं होता। प्रीति अर्थात् आनन्दमय उन्मुखीभाव सगुण-भक्ति के अन्तर्गत भगवान् और भक्त के अनिर्वचनीय मधुर सम्बन्ध का वाचक है। कला के क्षेत्र में यही रसानुभूति है। सगुण-कल्पना के इन तीन तत्वों ने एक ओर भारत की मूर्ति-चित्र-स्थापत्य कला और दूसरी ओर काव्य तथा संगीत को शत-शत रूपों में प्रभावित किया है।

इनके अतिरिक्त 'श्री सुबोधिनी' में संगीत कला के विषय में कुछ मार्मिक संकेत भी मिलते हैं :

शब्दो हि धूमवल्लोके बाह्याभ्यंतरयोगतः।
विराजते विनिर्गच्छन् तारतम्यं च गच्छति ॥

(सुबोधिनीकारिका, पृ० १८४)

—अर्थात् बाह्याभ्यंतर के योग से—शब्द-लय और भाव के योग से, गायक के हृदय से निस्सृत होकर गीत अत्यन्त मोहक बन जाता है और सुन्दर से सुन्दरतर होता जाता है।

अन्तःस्थितो रसः पुष्टो बहिश्चेन्न विनिर्गतः।
तदा पूर्णो नैव भवेदिति वाग्निर्गमस्तथा ॥

(सुबोधिनीकारिका, पृ० २६८)

—अर्थात् अंतःस्थित रस यदि बाहर अभिव्यक्त न हो तो वह पूर्ण नहीं हो सकता। इसीलिए गान के रूप में हृदय के रस की अभिव्यक्ति आवश्यक है।

ये दोनों कारिकाएँ श्री बिट्ठलनाथ जी की हैं। इनसे कला के विषय में निम्नोक्त तथ्य प्रकट होते हैं : १. कला की परिणति के लिए अभिव्यक्ति अनिवार्य है। हृदयस्थित भाव वाचिक अभिव्यक्ति के बिना पूर्ण रसत्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

२. कला की सिद्धि बाह्यान्तरयोग पर—अर्थात् अनुभूति तथा माध्यम-उपकरण के सामंजस्य पर निर्भर करती है। यह सामंजस्य जितना परिपूर्ण होगा, उतना ही कलागत सौन्दर्य का उत्कर्ष होगा।

इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है गौड़ीय सम्प्रदाय का

और उसका श्रेय है चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य रूपगोस्वामी तथा उनके टीकाकार जीवगोस्वामी को। रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' की रचना कर 'उज्ज्वल रस' अथवा 'वैष्णव रस' की प्रतिष्ठा की और जीवगोस्वामी ने अपनी दुर्गमसंगमिनी टीका द्वारा विषय को पल्लवित किया। ये ग्रंथ वैष्णव सौन्दर्यशास्त्र अथवा धार्मिक सौन्दर्यशास्त्र के मूल आधार हैं। इनमें भगवद्रति को महाभाव या मौलिक स्थायी भाव मानकर उनके आधार पर भक्तिरस का सांगोपांग विवेचन किया गया है। भक्तिरस के आलम्बन हैं भगवान् कृष्ण और उनके रूप-सौन्दर्य आदि गुण उद्दीपन हैं। रूपगोस्वामी ने सौन्दर्य, रूप, लावण्य आदि तत्त्वों की अपने ग्रंथों में स्पष्ट व्याख्या की है। रूपगोस्वामी के मत से गुण तीन प्रकार के होते हैं: कायिक, वाचिक और मानसिक। इनमें सौन्दर्य, रूप, मृदुता आदि कायिक गुण हैं।

गुणास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः कायवाङ्मानसाश्रयाः।
वयःसौन्दर्यरूपाणि कायिका मृदुताऽऽदयः॥

(भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग,
प्रथमा त्रिभावलहरी, कारिका १२५)

इनमें, सौन्दर्य का लक्षण इस प्रकार है:

भवेत्सौन्दर्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम्। (कारिका १३३)

—अर्थात् अंगों के यथायोग्य सन्निवेश को सौन्दर्य कहते हैं। उज्ज्वलनीलमणि में इसी का स्पष्टीकरण किया गया है:

अंगप्रत्यंगकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टसंधिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते॥

(उज्ज्वलनीलमणि—काव्यमाला—१९३२—पृष्ठ २७४)

—अर्थात् सौन्दर्य से अभिप्राय है अंग-प्रत्यंग का यथोचित सन्निवेश जिसमें संधिबंध सम्यक् रूप से संघटित हों। रूप के विषय में आचार्य का मत है:

विभूषणं विभूष्यं स्याद्येन तद्रूपमुच्यते। (कारिका १३३)

—जिसके द्वारा अलंकार अलंकार्य बन जाय (अर्थात् जिसकी शोभा के लिए पहने गए अलंकार उसकी शोभा न बढ़ाकर स्वयं विभूषित हों) उसे रूप कहते हैं।

इसी लक्षण को **उज्ज्वलनीलमणि** में निम्नोक्त रीति से स्पष्ट किया गया है :

अंगान्यभूषितान्येव केनचिद्भूषणादिना ।
येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते ।। (उ० नी० पृ० २७२)

—किसी प्रकार के आभूषण से अनलंकृत अंग-प्रत्यंग जिस कायिक आकर्षण के द्वारा अलंकृत से लगते हों उसे रूप कहते हैं ।

इसी प्रकार शरीर के किसी अनिर्वचनीय गुण का नाम है—

माधुर्य :

रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोमाधुर्यमुच्यते । (उ० नी० पृ० २७५)

लावण्य :

रूपगोस्वामी द्वारा प्रस्तुत लावण्य की यह मार्मिक परिभाषा अत्यन्त प्रसिद्ध है :

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं तदिहोच्यते ।। (उ० नी० पृ० २७३)

—मुक्ताफलों में आन्तरिक कान्ति के तारल्य के समान—सीधे शब्दों में, मोतियों के भीतर से झलकती हुई आब की तरह, अंगों में जो आंतरिक छवि झलकती है, उसे लावण्य कहते हैं ।

भारतीय वाङ्मय में कदाचित् पहली बार यहाँ प्रत्यक्ष रूप से सौन्दर्य तथा उसके विभिन्न तत्त्वों का विवेचन किया गया है । इसमें सन्देह नहीं कि यह विवेचन मानवीय सौन्दर्य—अथवा मानव-रूप में अवतरित दिव्य सौन्दर्य का ही है, परन्तु इसमें सौन्दर्य के सामान्य लक्षण भी निश्चय ही विद्यमान हैं । उदाहरण के लिए 'सौन्दर्य' की परिभाषा में अनुपात अथवा सममिति और समन्विति का स्पष्ट उल्लेख है । 'रूप', 'माधुर्य' और 'लावण्य' के लक्षणों में उस नैसर्गिक आकर्षण को रेखांकित किया गया है जो अवयवों के सौन्दर्य से अतिरिक्त, समग्र व्यक्तित्व में व्याप्त रहता है । इस प्रकार का आकर्षण शुद्ध ऐन्द्रिय बोध का विषय न होकर मनोगोचर अथवा प्रतीयमान होता है । विषय का गुण होने पर भी इसकी प्रतीति विषयी पर बहुत कुछ निर्भर करती है, इसीलिए इसे अनिर्वाच्य कहा गया है : प्रमाता जिसका अनुभव तो करता है किन्तु किसी अंग-विशेष में या स्थान-विशेष पर उसका संधान नहीं कर सकता ।

सौन्दर्य के स्वरूप के अतिरिक्त सौन्दर्य की अनुभूति, सौन्दर्य के उपकरण और प्रसाधन आदि का भी रूपगोस्वामी ने, श्रीकृष्ण की मधुरा-भक्ति के

संदर्भ में, विस्तार से विवेचन किया है। उनकी वैष्णव रस-कल्पना के द्वारा भारतीय सौन्दर्य-चिंतन को एक नवीन आयाम प्राप्त हुआ, और धार्मिक सौन्दर्य-शास्त्र की प्राण-प्रतिष्ठा हुई जो मध्ययुग में शताब्दियों तक भारत के प्रगीत-काव्य तथा स्थापत्य-मूर्ति-चित्र-संगीत-नृत्य आदि कलाओं को प्रभावित करता रहा।

इस परम्परा का एक अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ है 'भगवद्भक्तिरसायन', रचयिता हैं श्री मधुसूदन सरस्वती जो रूपगोस्वामी के समकालीन थे। मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरस की अत्यन्त प्रबल शब्दों में महत्त्व-प्रतिष्ठा कर काव्य-शास्त्र के आधार पर उसका सर्वांग विवेचन किया है। 'भगवद्भक्तिरसायन' में योगदर्शन आदि के आश्रय से भक्ति स्थायिभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरस को सर्वश्रेष्ठ माना है जिसकी तुलना में अन्य सभी रस निष्प्रभ हो जाते हैं। इस ग्रन्थ का महत्त्व यह है कि इसमें वैष्णव-रस-कल्पना को दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित किया गया है।

कलाशास्त्र

भारतीय वाङ्मय में विविध कलाओं का उल्लेख आरंभ से ही मिलता है—वेदों में काव्य के अतिरिक्त संगीत अर्थात् गीत-वाद्य-नृत्य, चित्र, शिल्प, वास्तु आदि प्रमुख कलाओं के अतिरिक्त तक्षण, वयन आदि अनेक उपयोगी कलाओं का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख है। वास्तव में, शिल्पविद्या का वैदिक काल में सम्यक् विकास हो चुका था—और इसका प्रमाण यह है कि स्थापत्य विद्या को अथर्ववेद का उपवेद माना गया। उस युग में कलाकार समाज का सम्मानित एवं पुरस्कृत सदस्य बन चुका था—ऋभुओं को रचना-कौशल के कारण देवत्व की प्रतिष्ठा प्रदान की गयी थी।[1] किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में कला शब्द का प्रयोग बहुत बाद में हुआ। अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर, कलाओं का वर्णन सबसे पहले वात्स्यायन के कामसूत्र में मिलता है। उन्होंने चौंसठ कलाओं का वर्णन करते हुए नागर जीवन की समृद्धि में उनके योगदान पर प्रकाश डाला है। वात्स्यायन का विवेचन अपने आप में अत्यंत स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त है, जिससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उनके सामने कला-विषयक एक निश्चित परम्परा विद्यमान थी—और कामसूत्र में इसकी स्पष्ट स्वीकृति भी मिलती है। वात्स्यायन ने पांचाल, सुवर्णनाभ, दत्तक, आदि अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है और

१. देखिए स्वतन्त्रकलाशास्त्र, लेखक : डॉ० कांतिचंद्र पाण्डेय (प्रथम संस्करण), पृ० १२-१३।

बाभ्रवीय : बभ्रु के पुत्र पांचाल के प्रति विशेष आभार व्यक्त किया है।

वात्स्यायन के कला-वर्णन की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

१. कलाओं की संख्या ६४ है। इसमें आधुनिक युग में मान्य पाँच ललित कलाओं में से काव्य, संगीत (गीत, वाद्य, नृत्य), आलेख्य अर्थात् चित्र और वास्तु का उल्लेख है। शिल्प का अन्तर्भाव आलेख्य और वास्तु में हो जाता है। इनके अतिरिक्त दो कलाएँ और हैं—१. क्रियाकल्प और २. नाटकाख्यायिका-दर्शन। पहले से काव्य-रचना की विधि का और दूसरे से नाटक तथा आख्यायिका आदि काव्य-विधाओं का ज्ञान अभिप्रेत है।

२. इन कलाओं के प्रयोजन के विषय में वात्स्यायन का दृष्टिकोण निश्चय ही शृंगारिक एवं उपयोगितावादी है। इनका सम्बन्ध जीवन के उपभोग अर्थात् चार पुरुषार्थों में से तृतीय पुरुषार्थ—काम के साथ है। कलाओं के अभ्यास से—(i) नगर-गोष्ठी, राजसभा आदि में सम्मान मिलता है। (ii) प्रियजन की प्रीति प्राप्त होती है। (iii) प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सुखपूर्वक जीवन-यापन किया जा सकता है। (iv) सौभाग्य अर्थात् अर्थ-लाभ, अनर्थ का नाश, काम तथा यश की सिद्धि होती है। (का० सू० अधिकरण १, अ० ३, १७-२२)।

व्यापक रूप में यह कहा जा सकता है कि कला नागर जीवन की समृद्धि का प्रमुख उपकरण है जिससे सुख-सौभाग्य की सिद्धि के साथ-साथ व्यक्तित्व का परिष्कार भी होता है।

३. वात्स्यायन ने कलाओं का वर्गीकरण नहीं किया, किन्तु उनके टीकाकार यशोधर ने उनके दो वर्ग किए हैं—मूल और अन्तर : **इति चतुःषष्टिर्मूलकलाः। आस्वेवान्तरनिविष्टानामन्तरकलानामष्टादशाधिकानि पंचशतान्युक्तानि।** (का० सू० अधि० २, अ० ३ सूत्र १४ की टीका)।—अर्थात् ये ६४ कलाएँ हैं। इन्हीं के अन्तर्गत इनकी ५१८ अन्तर कलाएँ आ जाती हैं। यह वर्गीकरण भी प्रायः नागर जीवन की समृद्धि तथा कामोपभोग की दृष्टि से मुख्य और गौण का ही वाचक है : मौलिक और उपजीवी अथवा ललित और उपयोगी का समानार्थक नहीं है—अर्थात् यह स्थूल और व्यावहारिक ही है, तात्त्विक नहीं है।

४. कला की परिभाषा भी कामसूत्र में उपलब्ध नहीं है किन्तु परिगणित कलाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कला से अभिप्राय ऐसे कौशल या 'हुनर' का है जिसके द्वारा जीवन में सौंदर्य तथा समृद्धि का संचार होता है, व्यक्तित्व का संस्कार और चित्त का प्रसादन होता है। इनमें स्तर का भेद स्पष्ट है। कुछ कलाएँ कारीगरी मात्र हैं और कुछ में सिर्फ़ हाथ ही सफ़ाई है। लेकिन कुछ कलाओं का स्तर बहुत ऊँचा है, वे

निपुणता और अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा के उन्मेष पर निर्भर करती हैं : जैसे काव्य, संगीत, वास्तु, चित्र आदि।

'कला' शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। इसकी मूल धातु है 'कल्' जिसका अर्थ है संख्यान। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार संख्यान शब्द की सिद्धि **'ख्या'** धातु से न होकर **'चक्षिङ् व्यक्तायाम् वाचि'** से है और इसका अर्थ होता है स्पष्ट वाणी में अभिव्यक्ति। उधर इसका प्रयोग दर्शन तथा मनन के अर्थ में भी होता है। सम् उपसर्ग के साथ यह संकलन का वाचक बन जाता है जिसमें गणना तथा सम्यक् रूप से विचार का भाव निहित है।[1] इस 'संकलन' शब्द में कला के वास्तविक अर्थ का वीज विद्यमान है। संकलन का अर्थ है समीकरण—मानसिक स्तर पर चित्त-वृत्तियों का समीकरण अथवा समाहिति, और भौतिक स्तर पर मूर्त्त उपकरणों का। 'कला' शब्द की सिद्धि एक दूसरे प्रकार से भी हो सकती है—'कं लाति, अर्थात् आनन्द देने वाली।[2] मोनियर विलियम्स और आप्टे के संस्कृत कोशों में कल् का एक और अर्थ दिया है : करना—निर्माण या रचना करना—सम्पन्न करना (टु डू, मेक, एकंप्लिश।) मेरा विचार है कि यह अर्थ अधिक सरल और प्रसंगानुकूल है। इसी के आधार पर शैवागम में कला को **'किंचित्कर्तृत्वलक्षणा'** अर्थात् संकुचित कर्तृत्व-शक्ति माना गया है। **'व्यंजयति कर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा'** अर्थात् आत्मा की कर्तृत्व-शक्ति को जो परिमित रूप में प्रकट करती है उसका नाम कला है। इसी लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुए क्षेमराज ने लिखा है : **'कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला'** अर्थात् वस्तुओं या प्रमाता के स्व को—आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है इसीलिए इसका नाम कला है। (शिवसूत्रविमर्शिनी[3])

प्रसाद जी का मत है कि भारतीय दृष्टि में कला को उपविद्या माना गया है। काव्य की स्थिति कलाओं से उच्चतर है।—वह विद्या है, जबकि चित्र, मूर्ति और वास्तु शिल्पशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। यह मंतव्य वस्तुत: शैवतंत्र पर आश्रित है। शैवागम में कलाओं का क्रम कहीं-कहीं कामसूत्र से भिन्न है। कामसूत्र में, जैसा कि यशोधर के भाष्य से पुष्ट होता है, संख्याक्रम ५२-५३ पर 'मानसी' और 'काव्य-क्रिया' को दो पृथक् कलाएँ माना गया है परन्तु शैवतंत्र में 'मानसी-काव्य-क्रिया' एक ही कला है जो एक प्रकार की शब्दार्थ-

१. स्वतंत्रकलाशास्त्र (१९६७ ई०), पृ० ५।

२. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० ६।

३. देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' (२०१५ वि०), पृ० ४२।

क्रीड़ा मात्र है। (मोनियर विलियम्स सं० इं० डि०)। यशोधर के अनुसार काव्यक्रिया का अर्थ है **'संस्कृतप्राकृतापभ्रंशकाव्यस्य करणं—प्रतीत-प्रयोजनम्**—अर्थात् संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में काव्य-रचना जिसका प्रयोजन सर्वविदित है (लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, पृष्ठ ११८)। इस प्रकार यशोधर के मत से काव्य की गणना कलाओं में ही होती है। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि यशोधर को ही अकाट्य प्रमाण क्यों माना जाए, जबकि शैवागम के रचयिता उनकी अपेक्षा अधिक मौलिक और गंभीर विचारक थे। प्रसाद जी की स्थापना की पुष्टि १२वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शुक्रनीति' से भी हो जाती है, जिसमें काव्य का उल्लेख विद्याओं के अंतर्गत और कलाओं का पृथक् रूप से किया गया है :

> **पृथक्पृथक्तु विद्यानां लक्षणं संप्रकाशितम्।**
> **कलानां न पृथङ् नाम लक्ष्म चास्तीह केवलम्॥** (४,३०६)

—इस प्रकार विद्याओं का पृथक्-पृथक् लक्षण बताया गया है। कलाओं के पृथक् नाम नहीं दिये गये, केवल उनका लक्षण कर दिया गया है।

वास्तव में, यह प्रश्न अत्यंत विवादास्पद बन गया है और प्रस्तुत प्रसंग में इसका समाधान करना कठिन है। फिर भी, सब मिलाकर यही लगता है कि 'कला' शब्द का प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में अत्यधिक व्यापक रूप में हुआ है—एक ओर नादब्रह्म तथा वास्तुब्रह्म के प्रतीक संगीत एवं वास्तु को कलाओं में परिगणित किया गया है और दूसरी ओर इन्द्रजाल, हस्तलाघव, शुकसारिका-प्रलापन, केशमर्दन—तथा शुक्रनीति के अनुसार वृक्ष लगाना, ओषधि तैयार करना, गुड़-खांड बनाना और धातुओं का गलाना भी कलाओं में शामिल है। ऐसी स्थिति में कला के महत्तर रूप में काव्य का अंतर्भाव कर लेना अनुचित न होगा।—यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में भामह, दण्डी, वामन आदि ने काव्य और कलाओं का पृथक् रूप में ही वर्णन किया है, फिर भी काव्य में रचना-कौशल के महत्त्व और संगीत आदि कलाओं के गौरव को देखते हुए उपर्युक्त धारणा असंगत नहीं है।

'कामसूत्र' के बाद भारतीय काव्यशास्त्र की एक व्यवस्थित परम्परा मिलती है। चित्रसूत्र—'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' का अंग (गुप्तकालीन रचना—चौथी-पाँचवीं शती), मानसार (सातवीं-आठवीं शताब्दी), मयमत (नवीं शताब्दी), भोजकृत समरांगणसूत्रधार (ग्यारहवीं शती), सोमेश्वरदेवविरचित अभिलषितार्थचिंतामणि जिसका एक अंग है मानसोल्लास (बारहवीं शती), भुवनदेव-कृत अपराजितपृच्छा (बारहवीं-तेरहवीं शती), कुमाररचित शिल्परत्न (सोलहवीं शती) आदि। इनके अतिरिक्त आगम ग्रंथों में मत्स्य-पुराण (पाँचवीं

शताब्दी), बृहत्संहिता (छठी शताब्दी), अग्निपुराण (दसवीं शताब्दी) आदि में भी कलाओं के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इन ग्रन्थों में शिल्प के विविध रूपों—चित्र, प्रतिमा, वास्तु का सांगोपांग विवेचन है।

भारतीय कलाशास्त्र का पहला प्रामाणिक अभिलेख विष्णुधर्मोत्तरपुराण का तृतीय खण्ड है। इसमें लेखक ने चित्र, मूर्ति, संगीत, नृत्य तथा काव्य-कला के अंग-उपांगों का सविस्तर वर्णन-विवेचन करने के अतिरिक्त कला के मौलिक प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला है—जैसे **१. कला का उद्देश्य**—कला के द्वारा धार्मिक तथा ऐहिक दोनों प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति होती है: वह देवता-सान्निध्य के अतिरिक्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। **२. कलाओं का अन्तःसम्बन्ध**—समस्त कलाओं में एक मूलभूत अंतःसम्बन्ध रहता है। चित्रमूर्ति कला का सम्बन्ध नृत्य के साथ है और नृत्य का संगीत तथा नाट्य-काव्य के साथ।

वज्र—हे अनघ, मुझे देवता-रूप-निर्माण अर्थात् देव-प्रतिमा की रचना-विधि बताइए, जिससे शास्त्रोक्त रीति से रचित प्रतिमा सदा देवता के स्वरूप को प्रकट कर सके॥ १॥

मार्कण्डेय—हे नराधिप! जो चित्रविद्या के नियमों को भली भाँति नहीं जानता, वह मूर्तिकला के नियमों को कभी नहीं समझ सकता॥२॥

वज्र—हे भृगुवंश-विवर्धन! कृपया मुझे चित्रकला के नियम समझाइए क्योंकि चित्रसूत्र का ज्ञाता ही मूर्तिविद्या को जानता है॥३॥

मार्कण्डेय—नृत्यविद्या के ज्ञान के बिना चित्रकला के नियमों को समझना अत्यंत कठिन है क्योंकि दोनों में जगत् का अनुकरण अथवा चित्रण रहता है॥४॥

वज्र—हे द्विज! तो पहले आप नृत्यशास्त्र का विवेचन कीजिए और फिर चित्रविद्या का, क्योंकि नृत्यशास्त्र-वेत्ता चित्रविद्या का ज्ञाता होता है॥५॥

मार्कण्डेय—जो वाद्य-संगीत से अपरिचित है उसके लिए नृत्यशास्त्र का ज्ञान अत्यंत कठिन है क्योंकि वाद्यसंगीत के ज्ञान के बिना किसी प्रकार नृत्यविद्या का ज्ञान सम्भव नहीं है॥६॥

वज्र—तो हे धर्मज्ञ! पहले वाद्य-संगीत-विद्या का ही विवेचन कर फिर नृत्य-कला का विवेचन करें क्योंकि हे भार्गव-श्रेष्ठ! उसका मर्मज्ञ नृत्यविद्या को जानता है॥७॥

मार्कण्डेय—किंतु हे अच्युत! वाद्यसंगीत का ज्ञान गीत-विद्या के बिना

शक्य नहीं है। गीतशास्त्र के मर्मज्ञ को सभी कलाओं का विधिवत् ज्ञान होता है ।।८।।

वज्र—तब हे धर्मज्ञ-श्रेष्ठ ! गीतशास्त्र का व्याख्यान कीजिए क्योंकि गीतशास्त्र का ज्ञाता सर्वगुणसम्पन्न पुरुष सभी कलाओं का ज्ञाता होता है ।।९।।

मार्कण्डेय—गीत के दो भेद हैं : संस्कृत और प्राकृत। तीसरा भेद है अपभ्रंश, जिसके हे राजन् ! अनंत भेद होते हैं ।।१०।। देश भाषाओं पर आधृत होने के कारण उसके भेदों का कोई अंत नहीं है। गीत पाठ पर अर्थात् काव्य पर आश्रित होता है और पाठ-काव्य के दो भेद माने गये है—गद्य और पद्य ।।११।। गद्य का माध्यम बोलचाल या व्यवहार की भाषा होती है और पद्य का माध्यम है छंद जिसके अनेक भेद हैं ।।१२।।

(विष्णुधर्मोत्तरपुराण—खण्ड ३, अध्याय २)

३. **कला का विषय**—सम्पूर्ण जगत् का अनुकरण अथवा चित्रण कला का विषय है :

जगतोऽनुक्रिया कार्या द्वयोरपि यतो नृप।

अथवा

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।

४. **कला और भावाभिव्यक्ति**—भावाभिव्यक्ति या रस कलाओं का प्राणतत्त्व है। नवरस, स्थायी, संचारी, सात्त्विक आदि भावों का विस्तार से वर्णन करते हुए पुराणकार ने काव्य, संगीत, नृत्य, अभिनय, चित्र और प्रकारांतर से वास्तु-विद्या में भी उनकी अभिव्यक्ति को कला की चरम सार्थकता माना है।

५. **कला-सृजन की प्रक्रिया।**

६. **कला के माध्यम-उपकरण।**

इस परम्परा में दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है महाराज भोज का 'समरांगण-सूत्रधार' (ग्यारहवीं शती)। इसमें वास्तुकला के विविध अंगों—भवन-कला, प्रासाद-कला, नगर-कला तथा यंत्रकला के अतिरिक्त मूर्तिकला तथा चित्र-कला का विस्तार के साथ वर्णन है। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के समान ही, यहाँ भी भोज का दृष्टिकोण संग्राहक एवं समन्वयशील रहा है। उन्होंने भी अपने ढंग से कला के उद्देश्य, कला के अंग-उपांग, कलाओं के अंत:सम्बन्ध, रस-दृष्टि, माध्यम-उपकरण और गुण-दोष आदि का व्यवस्थित रूप से वर्णन

किया है। भोज ने चित्र, वास्तु और मूर्ति कलाओं को परस्पर-सम्बद्ध माना है और उन पर नृत्य-नाट्य कला का प्रभाव मुक्त रूप से स्वीकार किया है।

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन्।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात्॥
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते।
भवेदत्रायतं तस्मादनयोश्चित्रमाश्रितम्॥ ५४,३३-४४

उक्त श्लोकों का सारांश यह है: हस्तमुद्राओं से अर्थ का सूचन किया जाता है और दृष्टियों से उसका प्रतिपादन। इस प्रकार अभिनय के समान चित्र में भी विषय का सजीव प्रदर्शन होता है। अतएव नाट्य के जो साधन और अंग हैं वे ही चित्र के भी।

भोज के मत से वास्तु, मूर्ति और चित्र में चित्र ही प्रमुख एवं सर्वाधिक लोकप्रिय है:

—अब इसके बाद हम चित्र-कर्म का प्रपंच करते हैं क्योंकि चित्र ही सब शिल्पों का प्रधान अंग तथा लोकप्रिय कर्म है। ५०।१

चित्र—प्रतिमा तथा आलेख्य—के प्रसंग में रसों और रस दृष्टियों का विवेचन समरांगणसूत्रधार में अत्यन्त मनोयोगपूर्वक किया गया है। यह भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। प्रस्तुत ग्रंथ का गुण-दोष-विवेचन भी अत्यन्त स्पष्ट है: उसमें सुविभक्तता अर्थात् सम्यक् अनुपात, निगूढ़-संधिकरण अर्थात् सूक्ष्म संघटना, अविकलता आदि को सौन्दर्य के साधक तत्त्वों के रूप में रेखांकित किया गया है और इनके अभाव एवं विलोम भाव को बाधक तत्त्वों के रूप में।

अधिक मौलिक न होने पर भी समरांगणसूत्रधार मध्ययुगीन भारतीय कलाशास्त्र का अत्यन्त परिपूर्ण एवं प्रामाणिक अभिलेख है।

'अपराजितपृच्छा' की रचना समरांगणसूत्रधार के कुछ समय बाद संभवतः बारहवीं शताब्दी में हुई। इसके रचयिता थे भुवनदेव जो कदाचित् अपराजित देवपाल नामक दाक्षिणात्य राजा के पार्षद थे[1]। यह ग्रन्थ भी भारतीय कलाशास्त्र का आकर-ग्रंथ है जिसमें वास्तु, मूर्ति और चित्र के अतिरिक्त संगीत कला का भी विवेचन किया गया है। इसकी शैली अन्य ग्रन्थों के समान ही, वरन् उनसे भी अधिक वर्णनात्मक है। वास्तुकला के अंतर्गत भुवनदेव ने नागर, वेसर तथा द्राविड़ शैलियों का अत्यंत स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया है। चित्र-कला की विषय-परिधि का विवेचन करते हुए अपरा-

१. देखिए अपराजितपृच्छा (गायकवाड़ ओरियेंटल सीरीज़ १९५०) भूमिका भाग, पृष्ठ १२

जितपृच्छा के प्रणेता का मत है :

(१) **तद्वच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च।** २२४-२४।२६—यह संपूर्ण विश्व चित्रमय है और चित्र विश्व-रूप है, अर्थात् चित्र-कला की परिधि समस्त विश्व तक व्याप्त है। चित्र-कला अथवा व्यापक रूप से कला की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भुवनदेव ने अनेक मार्मिक संकेत दिये हैं, जैसे—

आत्मा चात्मस्वरूपेणचित्रवत् सृष्टिकर्मणि। (२२४-१७ उत्तरार्द्ध)

× × ×

आत्मरूपं इदं पश्येद् दृश्यमानं चराचरम्। (२२४-१८ पूर्वार्ध)

× × ×

आत्मानं च शिवं पश्येद् यद्वच्च जलचन्द्रमाः।
तद्वच्चित्रमयं सर्वं शिवशक्तिमयं परम्॥ (२२४-१९)

इनका भावार्थ यह है कि यह सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् चैतन्य तत्त्व की ही अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब झलकता है, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व शिवशक्ति का ही चित्र है।—अर्थात् चैतन्य अनुभूति की मूर्त अभिव्यक्ति ही कला है।

ग्रंथ के २३६वें सूत्र में सोलह आभूषणों का वर्णन है और अन्तिम तीन सूत्रों में नृत्य एवं संगीत का संक्षिप्त विवेचन है। इस प्रसंग में नवरस का स्पष्ट उल्लेख है और नृत्य-मुद्राओं के साथ-साथ रसदृष्टियों की भी चर्चा है किन्तु वे श्लोक खंडित हैं—कुल मिलाकर अपराजितपृच्छा में कलाओं की प्रविधि आदि के वर्णन पर ही अधिक बल है, सौन्दर्यशास्त्र के मौलिक प्रश्नों पर केवल संकेत ही प्राप्त होते हैं।

कालक्रम से इसके बाद 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' का नाम आता है। इसका संकलन-सम्पादन बारहवीं शताब्दी में चालुक्य राजा सोमेश्वरदेव ने किया था। ग्रंथ के तृतीय प्रकरण में वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला के विधि-विधान का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अभिलषितार्थचिंतामणि भी अन्य पूर्ववर्ती ग्रंथों की भाँति भारतीय कलाशास्त्र का कोश-ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न कलाओं की प्रतीकात्मक रूढ़ियों तथा प्रक्रिया आदि का अत्यन्त सूक्ष्म और वैज्ञानिक निरूपण मिलता है। कला के मूल अर्थात् अभिलषित अर्थ का प्रतिपादन इसका विषय है, किन्तु लेखक का दृष्टिकोण यहाँ भी दार्शनिक अथवा तात्त्विक न होकर प्रमुखतः प्राविधिक ही है।

मध्ययुगीन भारतीय कलाशास्त्र का अन्तिम प्रसिद्ध ग्रंथ है 'शिलपरत्न'। इसकी रचना १६वीं शती के उत्तरार्ध में हुई और सम्पादक हैं श्री कुमार जो

केरल के निवासी थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग हैं; पहले भाग के अन्तर्गत वास्तुकला का वर्णन है और इसी के प्रसंग में अन्त में चित्र-कला का विवेचन किया गया है। दूसरे भाग में मूर्ति-विधान तथा उनसे सम्बद्ध अन्य विषयों का निरूपण है। इसमें चित्रकला वर्णन वास्तुकला के अंगरूप में किया गया है:

एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः
मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैर्विचित्रितम् ॥

—इस प्रकार सभी भवनों और मंदिरों को चित्रों के द्वारा और अधिक सुन्दर बनाना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि चित्रकला वास्तुकला का अलंकार है। ग्रंथकर्ता के मत से चित्रकला की विषय-परिधि समस्त जड़-जंगम जगत् तक व्याप्त है। परम्परा के अनुसार उसने कला के अविषयों का भी वर्णन किया है और उन्हें चित्राभास कहा है।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त डॉ० राघवन ने दो और शिल्प-ग्रंथों का उल्लेख किया है जिनमें चित्रकला का विवेचन है: 'सारस्वत चित्रकर्मशास्त्र' और 'नारद-शिल्प'। 'सारस्वत चित्रकर्मशास्त्र' में भी चित्र का अर्थ मूर्ति ही माना गया है और उसके चित्र, अर्धचित्र तथा चित्राभास—ये तीन भेद किए गए हैं। नारद-शिल्प की एक उल्लेख्य विशेषता है चित्रशाला-लक्षण-कथन जिसमें सार्वजनिक चित्रशाला के वास्तुविधान तथा चित्र-सम्पदा आदि का रोचक वर्णन है। ग्रंथकार ने चित्रों की अलंकार-सज्जा पर विशेष बल दिया है और अपने पूर्ववर्ती आचार्य उशीनर के साक्ष्य से यह सिद्ध किया है कि चित्रकला—व्यापक रूप में—कला का उद्देश्य केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक ही नहीं है—ऐहिक स्तर पर सौन्दर्य की सृष्टि और आस्वादन में भी कला की सार्थकता निहित है।

संगीत

भारतीय संगीत की परम्परा वेदों से ही आरंभ हो जाती है। वेदों के मंत्रों और सूक्तों में—विशेषकर सामवेद और उससे सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रंथों में संगीत के स्वरूप, आधारभूत स्वर, रचनाविधि आदि का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। संगीतशास्त्र के आदि आचार्य हैं नारद जिनके विचार 'नारदीय शिक्षा' के रूप में संकलित हैं। मौलिकता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से 'नारदीय शिक्षा' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें स्वर, ग्राम, राग, तान, गुण-दोष आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है और संगीत कला के प्रयोजन के साथ-साथ संगीतशास्त्र की सार्थकता पर भी प्रकाश डाला गया है। नारद के बाद दूसरे प्रसिद्ध आचार्य हैं भरत जिन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में संगीत के महत्त्व

स्वरूप, आस्वाद, प्रयोजन आदि के अतिरिक्त समस्त अंग-उपांगों—स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, साधारण, जाति, वर्ण, अलंकार, गीत आदि का और उधर संगीत की सहकारी वाद्य तथा नृत्य कलाओं का अत्यन्त विस्तार के साथ विवेचन-विश्लेषण किया है। परवर्ती आचार्यों में कोहल, नन्दिकेश्वर, मतंग तथा दत्तिल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोहल के ग्रन्थ 'संगीतमेरु' और नन्दि-केश्वर की कृति की रचना सातवीं-आठवीं ईस्वी शताब्दी से पूर्व हो चुकी थी। मतंग-कृत 'बृहद्देशी' और दत्तिल के विचारों का संग्रह 'दत्तिलम्' सातवीं-आठवीं शती की रचनाएँ हैं।

संगीत-कला का आकर-ग्रंथ है शाङ्ˊगदेव-कृत 'संगीत-रत्नाकर' जो तेरहवीं शताब्दी की कृति है। इस ग्रंथ पर शिंगभूपाल और कल्लिनाथ की प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। संगीत-रत्नाकर में भी संगीत के संदर्भ से सौन्दर्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख तत्त्वों के विषय में सामान्य संकेत-सूत्र मिलते हैं। संगीत-कला का लक्षण करते हुए शाङ्ˊगधर ने लिखा है : **गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीत-मुच्यते**—अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्य के समवाय का नाम संगीत है। १-२१। संगीत का मूर्त आधार है नाद और नाद में कला-सौन्दर्य की सृष्टि का रहस्य है—सामंजस्य की साधना। विभिन्न स्वरों और श्रुतियों में अनुक्रम, तारतम्य तथा समन्वय स्थापित कर संगीतकार रागों की सृष्टि करता है। राग ही वास्तव में उसकी 'कला-कृति' है। इस प्रकार अन्य कलाओं की भाँति, संगीत-कला का रहस्य भी अनेकता में एकता की सिद्धि में ही निहित है। संगीत का उद्देश्य धार्मिक होने के साथ-साथ ऐहिक भी है। उसका प्रभाव देवता, मनुष्य, नर-नारी और अबोध शिशु—और उधर पशु-पक्षियों तक व्याप्त है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि का साधन तो है ही, साथ ही देश-देश के जन-समाज का हृदय-रंजन भी करता है :

गीत से सर्वज्ञ भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं, अनन्तरूप गोपीनाथ कृष्ण भी वंशी के वश में हैं। ब्रह्मा सामगीत पर मुग्ध हैं और सरस्वती वीणा पर—फिर अन्य—यक्ष, गंधर्व, देव, दानव और मानवों की तो बात ही क्या? विषयास्वाद से अपरिचित, पर्यंकगत रोता हुआ बालक भी गीतामृत का पान-कर अत्यंत प्रसन्न हो उठता है। मृग-शावक जो तृण का आहार करता है और वनचर है, वह भी लुब्धक के संगीत के लोभ में जीवन का उत्सर्ग कर देता है। —(अतः) उस गीत के माहात्म्य का कीर्तन कौन कर सकता है? वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का एकमात्र साधन है। (संगीतरत्नाकर १-१-२६-३०)।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त ग्रंथों की विषयवस्तु एवं विवेचन-पद्धति का विश्लेषण करने

पर कुछ तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जाते हैं :

१. इन सभी में विभिन्न कलाओं की प्रविधि-प्रक्रिया तथा रीति-रूढ़ियों का ही विस्तार से विवेचन हुआ है, कला के सौन्दर्य का तत्त्व-विवेचन अधिक नहीं है।

२. फिर भी, इनमें ऐसे अनेक सामान्य सूत्र प्राप्त हो जाते हैं जिनमें कला-सौन्दर्य के मूल तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है।

३. यद्यपि इनमें वास्तु-कला का वर्णन अधिक विस्तार से हुआ है, फिर भी उसके अंग-रूप में मूर्तिकला और चित्रकला को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। इनके अतिरिक्त प्रायः संगीत और नृत्य का भी संक्षेप में वर्णन मिलता है। संगीत का विवेचन स्वतन्त्र रूप से अन्य ग्रंथों में हुआ है।—सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कलाओं का अंतःसम्बन्ध जिसका उल्लेख सबसे पहले विष्णुधर्मोत्तरपुराण में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किया गया है।

४. कला के उद्देश्य के विषय में भी इनका दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय कलाओं के मूल में धार्मिक प्रेरणा प्रायः बलवती रही है। वास्तुकला की साधना वास्तु-ब्रह्म की तथा संगीत-कला की नाद-ब्रह्म की उपासना के रूप में की गयी है और उधर मूर्ति एवं चित्रकला की उद्भावना अरूप ब्रह्म को रूप प्रदान करने के निमित्त हुई है :

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

(हयशीर्षपंचरात्र)

—जो केवल चिन्मय है, अद्वितीय है, कलाहीन और अशरीरी है, ऐसे ब्रह्म की उपासकों के लिए रूप-कल्पना की जाती है।

किन्तु ऐहिक स्तर पर सौन्दर्य की सृष्टि के द्वारा आनन्द की सिद्धि के लिए भी कला की साधना आरम्भ से ही होती आयी है। कला नागरिक जीवन का अलंकार है, यह धारणा कामसूत्र में अनेक रूपों में मुखरित हुई है।

५. अनुक्रम, सममिति, सादृश्य-विधान कला-सौन्दर्य के आवश्यक तत्त्व हैं, परन्तु उसका प्राण है रसाभिव्यक्ति। इसीलिए इन सभी ग्रंथों में रसों और रस-दृष्टियों का विशद वर्णन है।

६. काव्य कला है या विद्या? यह प्रश्न कुछ विवादास्पद है। शैवतंत्र में और शुक्रनीति में काव्य को विद्या माना गया है और वास्तु, मूर्ति, चित्र, नृत्य-गीत को कला। परन्तु यशोधर आदि ने काव्य की गणना भी कला के व्यापक रूप के अन्तर्गत ही की है। वस्तुतः काव्य का संबंध संगीत, चित्र

आदि कलाओं के साथ इतना घनिष्ठ है कि इनकी प्रायः एक ही जाति मानना समीचीन होगा। काव्य में मनस्तत्त्व अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक है और मूर्त आधार प्रायः नगण्य है, इसलिए उसकी स्थिति उच्चतर मानने में तो कोई विकल्प ही नहीं है—किन्तु जाति पृथक् नहीं है।

७. इन ग्रंथों का दृष्टिकोण मूलतः शास्त्रीय अथवा रीतिवादी है—अर्थात् इनमें कला-सौन्दर्य का निकष कलाकार की व्यक्तिगत रुचि या प्रवृत्ति को न मानकर शास्त्रीय विधान को माना गया है। व्यक्तिगत रुचि से प्रेरित कला व्यक्ति का मनस्तोष कर सकती है, किन्तु शास्त्र-सम्मत कला-सृष्टि का आकर्षण सार्वभौम होता है :

× × ×

शास्त्रमानेन यो रम्यस्स रम्यो नान्य एव हि ॥१०७॥
शास्त्रमानविहीनं यदरम्यं तद्विपश्चिताम् ।
एकेषामेव तद्रम्यं लग्नं यत्र च यस्य हृत् ॥

(शुक्रनीति अ० ४, प्र० ४)

—जो शास्त्रीय प्रतिमानों के अनुसार सुन्दर है, वही वस्तुतः सुन्दर है, अन्य नहीं। जो शास्त्रीय प्रतिमानों के अनुकूल नहीं है वह असुन्दर है : ऐसा पण्डितों का मत है। क्योंकि जो किसी व्यक्ति-विशेष के चित्त का अनुरंजन करता है वह केवल उसी को सुन्दर लगता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य-विवेचन

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का वास्तविक एवं विकसित रूप काव्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि यहाँ सौन्दर्यशास्त्र की एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा नहीं हुई, फिर भी उसके मूल तत्त्वों और विविध पक्षों एवं अंगों का विवेचन-विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म-गहन स्तर पर किया गया है। रस के भाव-पक्ष अथवा अनुभूत्यात्मक रूप का निर्वचन रस और ध्वनि-सिद्धान्तों के अन्तर्गत और वस्तुनिष्ठ रूप का रीति तथा अलंकार-सिद्धान्तों में विस्तार से मिलता है। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त में उसके उभयनिष्ठ रूप का—विषयिविषयगत रूप का विश्लेषण किया है और क्षेमेन्द्र ने औचित्य की प्रतिष्ठा कर कृति के स्तर पर सममिति तथा अनुपात आदि तत्त्वों का और विचार के स्तर पर सौन्दर्य के नैतिक पक्ष का उद्घाटन किया है। इधर नाट्य-शास्त्र के ग्रंथों में सौन्दर्य के प्रायोगिक रूप की विवेचना भी अत्यन्त सांगोपांग रीति से की गयी है।

सौन्दर्य शब्द का पारिभाषिक प्रयोग

प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० दासगुप्त का मत है कि भारतीय काव्यशास्त्र में, पारिभाषिक अर्थ में, सौन्दर्य की सही धारणा का वाचक शब्द 'रमणीयता' ही है जिसका प्रयोग पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने काव्यलक्षण **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** में किया है। आचार्य शुक्ल ने भी काव्यादि के प्रसंग में सुन्दर की अपेक्षा 'रमणीय' शब्द को ही अधिक सार्थक माना है। यह मंतव्य एक सीमा तक ठीक हो सकता है, किन्तु वस्तुतः 'सौन्दर्य' का प्रयोग प्रस्तुत संदर्भ में प्रायः आरम्भ से ही होता रहा है। जिन आचार्यों ने पारिभाषिक अर्थ में इसका प्रयोग किया है, उनमें प्रमुख हैं वामन, अभिनवगुप्त, और सबसे अधिक कुन्तक जिन्हें यह शब्द अत्यंत प्रिय है :

वामन : **काव्यं ग्राह्यमलंकारात्** ॥ का० सू० वृ० १-१-१ ॥
सौन्दर्यमलंकारः ॥ १-१-२ ॥

—काव्य का सारतत्त्व है अलंकार और अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य : अर्थात् सौन्दर्य काव्य का प्राण है।

अभिनवगुप्त : १. **अन्ये तु काव्येऽपि गुणालंकारसौन्दर्य्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः ।**

—अन्य व्याख्याता यह कहते हैं कि काव्य में भी गुण तथा अलंकार के सौन्दर्य्यातिशय के कारण रसचर्वणा होती है।

(हिन्दी अभिनवभारती, अ० ६, पृ० ५०४)

२. **अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्य्यं प्राधान्येन भाति ।**

—यहाँ विभाव की प्रधानता के कारण उसका (रचना का) सौन्दर्य प्रतीत होता है।

(हिन्दी अभिनवभारती, अ० ६, पृ० ४६०)

३. यतः **सौन्दर्य्यप्राणैव सा ।**

—क्योंकि वह कैशिकी वृत्ति सौन्दर्य-प्राण ही है।

(हि० अ० भा०, अ० १, पृ० ११६)

—यहाँ सौन्दर्य शब्द का प्रयोग नाट्यव्यापार—गीत, नृत्य, अभिनय आदि कलाओं के उत्कर्ष के संदर्भ में हुआ है।

कुन्तक : १. वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम् ।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ॥
(व० जी० १।२३)

—वाच्य (अर्थ), वाचक (शब्द) और वक्रोक्ति (अलंकार) इन तीनों के उत्कर्ष के अतिरिक्त (से परे) प्रीतिगुण अथवा रंजकत्व के कारण सुन्दर कुछ अपूर्व (वस्तुधर्म) ही 'सहृदय-आह्लादकत्व' है।

२. शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥
(व० जी० १।६)

—(काव्य के संदर्भ में) अन्य पर्याय शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का वाचक शब्द ही वास्तव में 'शब्द' संज्ञा का अधिकारी है और 'सहृदय-रंजक' अपने स्वभाव से सुन्दर अर्थ ही वस्तुतः 'अर्थ' है।

३. आयत्याञ्च तदात्वे च रसनिःस्यन्दसुन्दरम् ।
येन सम्पद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते ॥
(व० जी० कारिका ५ का अंतरश्लोक)

—जिसके द्वारा काव्य उस समय (अध्ययन-काल में) और पीछे (परिणाम में) रस के प्रवाह से सुन्दर बनता है, अब उसका विचार करते हैं।
(हि० व० जी०, पृ० १४)

४. वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसंधानसम्पदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥ १।३२ ॥

—वर्णविन्यास की शोभा से युक्त पदों की स्वल्प सम्पत्ति से उत्पन्न रचना का सौन्दर्य लावण्य कहलाता है।

कालक्रम से—प्राचीन आचार्यों में, भामह, दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रंथों में भी 'सौन्दर्य' शब्द का शास्त्रीय अर्थ में प्रयोग मिलता है, यद्यपि यह प्रयोग अपेक्षाकृत विरल है।

भामह : किंचिदाश्रयसौन्दर्य्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ॥
(काव्यालंकार १।५५)

—रमणी के नेत्रों में लगे काले अंजन के सदृश कहीं आश्रय (आधार) के

सौन्दर्य के कारण (भी) दोष रमणीयता धारण कर लेता है।[1]

यहाँ आश्रय से अभिप्राय काव्यार्थ का ही है : काव्यार्थ यदि रमणीय है तो सामान्य दोष भी कहीं-कहीं सौन्दर्य बन जाता है।

दण्डी : **गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।**
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः॥ १।२१

—पहले नायक के गुणों का वर्णन कर बाद में प्रतिनायक का और नायक के द्वारा उसके निराकरण का वर्णन किया जाए। यह वर्णन-पद्धति स्वभावतः सुन्दर होती है।

यहाँ वर्णन-पद्धति के संदर्भ में सुन्दर का प्रयोग हुआ है।

मम्मट : **अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः।**

—अर्थात् वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान विषयों से विलक्षण......। (काव्यप्रकाश,[2] पृ० १०३)

विश्वनाथ : **व्यंग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ।** (सा० द० ४-१४)

—अथवा (गुणीभूतव्यंग्य काव्य में) व्यंग्य असुन्दर होता है। इस मध्यम काव्य—गुणीभूतव्यंग्य के भेद आठ होते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारतीय काव्यचिंतन-परम्परा में, पारिभाषिक अथवा शास्त्रीय अर्थ में भी, 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग निरन्तर होता रहा है। सौन्दर्य यहाँ चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं है, मन का—भावना अथवा कल्पना का ही विषय है।

सौन्दर्य के अन्य पर्याय

संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रयुक्त 'सौन्दर्य' के अन्य पर्याय शब्द हैं—शोभा, चारुता, रमणीयता आदि।

शोभा :

दण्डी : **काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।**

(काव्यादर्श २।१)

१. भामह-विरचित काव्यालंकार—भाष्यकार : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० २६।
२. भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर—(प्रकाशक ज्ञानमण्डल काशी)।

—काव्य की शोभा के कारणभूत धर्मों को अलंकार कहते हैं।

वामन : **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।**

(का० सू० वृ० ३, १, १)

—काव्य की शोभा के (उत्पन्न) करनेवाले धर्म गुण होते हैं।

कुन्तक : **साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।**
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥

(व० जी० १।१७)

—काव्य की शोभाशालिता (सौन्दर्याधायकता) के प्रति इन दोनों (शब्द और अर्थ) की न्यूनता और आधिक्य से रहित कुछ अनिर्वचनीय मनोहर स्थिति ही 'साहित्य' है।

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

(विश्वनाथ : सा० द० १।१)

—काव्य की शोभा में श्रीवृद्धि करनेवाले रस-भावादि के उपकारक, जो शब्द-अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे भुजबंद आदि के समान 'अलंकार' कहलाते हैं।

चारुता :

भामह : **न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।**

(काव्यालंकार १।३६)

—केवल नितांत आदि शब्दों के प्रयोग से वाणी में सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होता।

आनन्दवर्धन : १. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥

(ध्वन्यालोक—१।१५)

—उक्त्यन्तर से जो चारुत्व (सौन्दर्य) प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसको प्रकाशित करनेवाला, व्यंजना-व्यापार-युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है।[1]

1. ध्वन्यालोक, हिन्दी-भाष्य (आ० विश्वेश्वर), ज्ञानमण्डल, पृ० ६१।

२ चारुत्वोत्कर्षनिबंधना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।

—वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य का निर्णय चारुत्व-सौन्दर्य के उत्कर्ष के आधार पर ही होता है ।[१]

३. काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा सारूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः, तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

—शरीर में आत्मा के समान ललित (गुणालंकारयुक्त), उचित (रसादि के अनुरूप) रचना के कारण चारु अर्थात् सुन्दर काव्य में साररूप में स्थित, सहृदयप्रशंसित जो अर्थ है, उसके वाच्य और प्रतीयमान—दो भेद हैं ।[२]

रमणीयता :

पारिभाषिक अर्थ में 'रमणीय' शब्द का सबसे अधिक प्रामाणिक प्रयोग पण्डितराज जगन्नाथ ने किया है :

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । रसगंगाधर-१·१

—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य है ।

और रमणीयता का अर्थ है ऐसी ज्ञानगोचरता अर्थात् चेतना जो लोकोत्तर आह्लाद प्रदान करती है :

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता । (वृत्ति)

अन्य आचार्यों में आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुंतक आदि ने भी यथा-स्थान इस शब्द का व्यवहार किया है :

आनन्दवर्धन : तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं, अतिरमणीयं, अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम् ।

अर्थात् उस ध्वनि का स्वरूप, समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत (प्राणभूत) अत्यंत सुन्दर (रमणीय), प्राचीन काव्यलक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धि से भी प्रस्फुटित नहीं हुआ ।[३]

१. ध्वन्यालोक हिन्दी-भाष्य (आ० विश्वेश्वर), ज्ञानमण्डल, पृ० ४२ ।
२. वही, पृ० ११ ।
३. वही, पृ० ६ ।

राजशेखर : **किंतु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च ।**

—परन्तु निःसीम होने पर भी उस कविप्रतिभाजन्य अर्थ को दो भागों में ही विभक्त किया जा सकता है : **विचारितसुस्थ और अविचारितरमणीय** ।[1]

कुंतक : **अन्यच्च कीदृशम्—'किमप्यामोदसुन्दरम्' । किमपि अव्यपदेश्यं सहृदयहृदयसंवेद्यं, आमोदः सुकुमारवस्तुधर्मो रंजकत्वं नाम, तेन सुन्दरं रंजकत्वरमणीयम् ।**

—और वह कैसा ? किसी अपूर्व आमोद के कारण सुन्दर । 'कुछ' अनिर्वचनीय, सहृदयसंवेद्य जो आमोद अथवा सुकुमार वस्तु का रंजकत्व नामक धर्म है उसके कारण सुन्दर अर्थात् **रंजकत्व-रमणीयः** आह्लादकारी होने के कारण रमणीय (वर्णन को तद्विदाह्लादकारी कहते हैं) ।[2]

कुन्तक के अनुसार सुन्दर का अर्थ है— रंजक होने के कारण रमणीय । इस प्रकार 'सुन्दर' और 'रमणीय' पर्यायवाची हैं और उनका सामान्य धर्म है 'रंजकत्व' ।

इसी प्रकार **विच्छत्ति, छाया,** आदि कुछ अन्य शब्द भी हैं जो सौन्दर्य के वाचक हैं :

विशिष्टं योज्यते लिंगमन्यस्मिन् सम्भवत्यपि ।
यत्र विच्छित्तये सान्या वाच्यौचित्यानुसारतः ॥

(वक्रोक्तिजीवितम् २।२३)

अर्थात् जहाँ अन्य लिंग सम्भव होने पर भी विशेष शोभा के लिए अर्थ के औचित्य के अनुसार किसी विशेष लिंग का ही प्रयोग किया जाता है वह (पूर्वोक्त दो प्रकारों से भिन्न तीसरे प्रकार की) अन्य ही (लिंग-वैचित्र्यवक्रता) है ।

आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्रताम् ।
परः कामपि पुष्णाति बन्धच्छायाविधायिनीम् ।

(वक्रोक्तिजीवितम् २।१८)

अर्थात् आगम आदि के स्वभाव से सुन्दर (प्रत्ययवक्रता का) दूसरा प्रकार, रचना की शोभा को उत्पन्न करनेवाली किसी अपूर्व शब्दवक्रता को परिपुष्ट करता है ।

१. काव्यमीमांसा (भाष्यकार पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत) प्र० सं० पृ० १०८ ।
२. वक्रोतिजीवितम् (भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर), आत्माराम एण्ड संस, पृ० ६७ ।

कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द

उपर्युक्त शब्द पारिभाषिक अथवा अर्धपारिभाषिक होने पर भी सामान्य व्यवहार-भाषा के शब्द हैं, जिनका प्रयोग काव्यशास्त्र के बाहर काव्यादि में, और काव्यादि के अतिरिक्त शिष्टजन की भाषा में मुक्त रूप से होता रहा है। इनके अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे हैं जो भारतीय काव्यशास्त्र के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द हैं—जैसे रस अथवा चमत्कार, ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ, अलंकार, वक्रता आदि। काव्य की आत्मा की खोज वास्तव में उसके मूलभूत सौन्दर्य की ही खोज है। रस-सिद्धान्त के प्रवर्तकों का दृष्टिकोण नितांत भाववादी और प्रायः आनन्दवादी है। उनके अनुसार सौन्दर्य भाव का आस्वाद अथवा भोग है, उसी का नाम चमत्कार है:

> **तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृति-अनुमान-लौकिक-स्वसंवेदन-विलक्षण एव।**

—इसलिए अलौकिक-चमत्कार-स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न ही है।[1]

> **अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। × × ×। सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः।**

—इसलिए सभी सामाजिकों को सामूहिक रूप से ही प्रतीति होती है जो रस के लिए अत्यंत परिपोषक हो जाती है। × × × और, वह विघ्नों से सर्वथा रहित प्रतीति ही चमत्कार कहलाती है।[2]

> **भुञ्जानस्याद्भुतभोगस्पन्दाविष्टस्य च मनश्चमत्करणं चमत्कार इति।**

—भोक्ता के अद्भुत योगात्मक व्यापार से आविष्ट मन का चमत्कृत (आह्लादित) हो जाना ही चमत्कार है।[3]

भारतीय रस-सिद्धांत मूलतः अद्वैत—विशेष रूप से शैवाद्वैत—दर्शन पर आधृत है। अतः वह आस्वाद्य और आस्वाद का अभेद मानता है। इसीलिए विश्वनाथ ने रस को अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में आस्वाद्य माना है:

१. अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४८५।
२. वही, पृ० ४७१।
३. वही, पृ० ४७२।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः (सा० द० ३-३)। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट लिखा है कि काव्य के रस अथवा चमत्कार की चर्चा व्यवहार में अवश्य की जाती है, परन्तु तत्त्वरूप में रस सहृदय की प्रतीति का नाम है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त में, रस या चमत्कार के रूप में सौन्दर्य की भावपरक अथवा अनुभूत्यात्मक सत्ता ही स्वीकार की गयी है। काव्य अथवा कला (अभिनव ने अपने रस-विवेचन में काव्य के अतिरिक्त संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्र आदि अन्य कलाओं का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है) के रस या सौन्दर्य की अवस्थिति मूलतः सहृदय की चेतना में ही रहती है—अर्थात् सौन्दर्य सौन्दर्यानुभूति से अभिन्न है।

ध्वनि-सम्प्रदाय में भी ध्वनि-रूप काव्य-सौन्दर्य को व्यक्तिनिष्ठ ही माना गया है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

अर्थात्—प्रतीयमान कुछ और ही चीज़ है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से) अलग ही भासित होता है।

(ध्वन्यालोक १।४१)

सौन्दर्य प्रतीयमान है—इसका अर्थ यही हुआ कि वह सहृदयसंवेद्य है, वस्तुगत नहीं है। जिस प्रकार लावण्य शरीर का अंग न होकर प्रमाता की चेतना का विषय होता है, इसी प्रकार सौन्दर्य भी काव्यगत शब्दार्थ में निहित न होकर सहृदय की प्रतीति का ही विषय होता है।—यहाँ तक तो रस और ध्वनि सिद्धांत के दृष्टिकोण में विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु रस-सिद्धांत में जहाँ सौन्दर्य की सत्ता नितांत रागात्मक मानी गयी है, वहाँ ध्वनि-सिद्धान्त वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि को भी मान्यता प्रदान कर सौन्दर्य में रागतत्त्व की एकान्त अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता। वास्तव में, जैसा कि मैंने ध्वन्यालोक की भूमिका में संकेत किया है, ध्वनि-सिद्धांत की रस-विषयक धारणा में भाव की अपेक्षा कल्पना का महत्त्व ही अधिक है।

अलंकार और रीति मत के अनुयायी सौन्दर्य को वस्तुगत अर्थात् शब्दार्थ-गत मानते हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार अलंकार ही सौन्दर्य है और अलंकार शब्द-अर्थ का धर्म है। वामन के शब्दों में काव्य का मूल आकर्षण अलंकार ही है और अलंकार सौन्दर्य का पर्याय है।[1] यह अलंकार का व्यापक

१. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। का० सू० वृ० १. १. १; सौन्दर्यमलंकारः। १. १. २।

अर्थ है, जिसमें गुण आदि का भी अंतर्भाव है। रीति मत में काव्य की आत्मा अर्थात् मूल आकर्षण या सौन्दर्य है विशिष्ट अथवा सुन्दर पद-रचना, और इस वैशिष्ट्य या सौन्दर्य का आधार है गुण।[1] यह गुण भी शब्द-अर्थ का ही धर्म है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के देहवादी सम्प्रदायों में गुण और अलंकार ही सौन्दर्य के पर्याय हैं और वे शब्दार्थ के धर्म हैं।

वक्रोक्तिकार कुंतक ने पारिभाषिक अर्थ में सौन्दर्य के लिए 'वक्रता' शब्द का प्रयोग किया है। यह वक्रता ही शब्द-अर्थ-मय काव्य की अलंकृति या शोभा है।[2] वक्रता के लिए कुंतक ने विच्छत्ति, शोभा आदि शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है।[3] कुंतक का दृष्टिकोण, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे, समन्वयवादी है। उनके मत से सौन्दर्य उभयनिष्ठ है अर्थात् उसमें प्रमाता और प्रमेय का अभेदमय योग रहता है—प्रमाता के अंतश्चमत्कार और वस्तु अथवा शब्द-अर्थ के सौष्ठव के संश्लेष से ही उसकी निष्पत्ति होती है।

□ □

१, रीतिरात्मा काव्यस्य। १. २. ३; विशिष्टपदरचना रीतिः १.२. ७;
विशेषो गुणात्मा १. २. ८।

२. वक्रोक्तिजीवितम्, १. १०।

३. व० जी० १.१८

अध्याय : चार

सौन्दर्यानुभूति

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्यानुभूति का प्रामाणिक विवेचन काव्यशास्त्र में—रस-प्रसंग के अंतर्गत हुआ है, क्योंकि सौन्दर्य की व्यक्तिनिष्ठ परिकल्पना की परिणति, वास्तव में, रस ही है। परन्तु उसके विषय में संकेत-सूत्र आरम्भ से ही मिल जाते हैं। वैदिक साहित्य में सुन्दर तथा सौन्दर्य के ऐसे अनेक पर्याय हैं जिनका अर्थ-विश्लेषण करने पर सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। एक शब्द है 'रूप'—जो आकृति या आकार (फ़ॉर्म) का वाचक होने के अतिरिक्त सौन्दर्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। दूसरा इसी प्रकार का एक शब्द है 'रण्व' जो सुन्दर का पर्याय है। ये दोनों शब्द सौन्दर्य के ऐन्द्रिय स्वरूप के वाचक हैं और इनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति एक ऐन्द्रिय अथवा ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति है। सौन्दर्य के पर्यायों का एक अन्य वर्ग भी है जो उसके मानसिक रूप को रेखांकित करता है—ये हैं वल्गु, रम्य, हृद्य आदि। 'वल्गु' का अर्थ है, सायण के अनुसार, प्रीतिकर। हृद्य का अर्थ है 'हृदय-ग्राह्य' और रम्य का है 'मनोरम'। प्राचीन वाङ्मय में, प्रीति सुख अथवा आह्लाद का पर्याय है। हृद्य में 'हृदय द्वारा आस्वाद्य' का भाव है और रम्य में मन को तन्मयीभूत करने की क्षमता का। इन दोनों शब्दों के अर्थ में भी प्रीति या आनन्द का भाव निहित है, इसमें संदेह नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त शब्दों के द्वारा सौन्दर्यानुभूति में आनन्द तत्त्व के अंतर्भाव का स्पष्ट आभास मिल जाता है। ऋग्वेद में कवि की वाणी अथवा काव्य-कला को दिव्य चेतना से अनुप्राणित, प्रीतिकर, कल्याणकारी तथा पवित्र भावों की प्रेरक माना गया है।[1] इसका

१. देखिए प्रस्तुत पुस्तक का पृ० ३४।

अभिप्राय यह है कि कला अथवा सौन्दर्य की अनुभूति अलौकिक होती है, प्रीति-कर होने के अतिरिक्त कल्याणकारी होती है—आधुनिक शब्दावली में, रागद्वेष आदि से मुक्त, सामान्य ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त एवं अवदात होती है। वैदिक साहित्य का एक अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द है 'सोम' जो उल्लास एवं स्फूर्ति का प्रतीक है—ऐन्द्रिय-मानसिक स्तर पर भी और आध्यात्मिक स्तर पर भी। डॉ० फतहचन्द ने उसे सौन्दर्य का प्रतीक माना है—और यह धारणा समग्रतः ग्राह्य न होने पर भी असंगत नहीं है। सोम को सौन्दर्य का प्रतीक मान लेने पर सौन्दर्यानुभूति में मस्ती-स्फूर्ति अथवा प्राणद शक्ति के तत्त्व का समावेश हो जाता है। उपनिषद् में आत्मा के जिस सौन्दर्य का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है, उसके दो लक्षण हैं—प्रकाश और आनन्द। इन्हीं के आधार पर आनन्दवादी आचार्यों ने रस अथवा सौन्दर्यानुभूति को स्वप्रकाशानन्द अर्थात् आत्मचैतन्य से आलोकित आनन्दानुभूति माना है।

रामायण और महाभारत में सौन्दर्यानुभूति के प्रायः इन्हीं तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। उनमें सुन्दर के लिए शुभदर्शन, प्रियदर्शन, अभिरामदर्शन आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है जिनसे यह ध्वनित होता है कि सौन्दर्यानुभूति एक प्रकार की सुखद ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति है। सौन्दर्य से चित्त का प्रसादन होता है।[1] इसके अतिरिक्त मस्ती—यानी स्फूर्ति और उल्लास के तत्त्व का उल्लेख भी महाभारत में स्पष्ट रूप से मिलता है :

> **उदयन् नित्यशश्चात्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः।**
> **अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात् संजीवयति देहिनः॥** (उद्योगपर्व ९९.१०)

अर्थात् चन्द्रमा अपनी रश्मि-बाहुओं के अमृत स्पर्श से प्राणियों को संजीवन प्रदान करता है। उधर महाभारत के अन्तर्गत गीता के 'विराट् रूप' प्रसंग में, प्रकारान्तर से सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप की मार्मिक व्यंजना हुई है। सौन्दर्य की अनुभूति के लिए पदार्थ के गोचर रूप के साथ प्रमाता की ऐन्द्रिय चेतना का सामञ्जस्य और उसके फलस्वरूप प्रमाता की चित्तवृत्ति का समीकरण आवश्यक है। जब पदार्थ का गोचर रूप इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति का अतिक्रमण कर जाता है तो चित्त की समाहिति भंग हो जाने से सौन्दर्य की अनुभूति बाधित हो जाती है।[2]

रामायण में सौन्दर्य को भाव-प्रेरित माना गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही कवि ने इस सत्य की घोषणा की है कि प्रबल भाव की प्रेरणा से वाणी

१. चित्तप्रसादिनी बाला देवानामपि सुन्दरी। वनपर्व ५३.१४।
२. देखिए प्रस्तुत पुस्तक, पृ० ५२-५३।

काव्य बन जाती है—अर्थात् शब्द-अर्थ में सौन्दर्य का समावेश हो जाता है।

संस्कृत के अभिजात साहित्य में कालिदास आदि कवियों ने अपनी काव्यमय शैली में सौन्दर्यानुभूति का अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल विश्लेषण किया है। शकुंतला के रूप को देखकर दुष्यंत ने अनेक प्रसंगों में अपनी प्रतिक्रिया सुन्दर भावदीप्त सूक्तियों में व्यक्त की है, जिनमें सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप का मार्मिक तत्त्व-विवेचन निहित है :

१. अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम् (तृ० अं०)

२. मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ (१,२३)

—अर्थात्, **कैसे ऐसे रूप की नर तें उतपति होइ।**
भूतल तें उपजति कहूँ बिज्जुछटा की लोइ॥

उपर्युक्त उद्गीतियों में सौन्दर्यानुभूति के दो तत्त्वों की रमणीय व्यंजना है : आह्लाद और विस्मय। एक स्थिति में दुष्यंत को सौन्दर्य की अनुभूति परम आह्लाद (निर्वाण) के रूप में होती है और दूसरी में सुखद विस्मय के रूप में।

विस्मय का यही भाव माघ की इस प्रसिद्ध सूक्ति में भी व्यंजित है :

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

एक स्थान पर कालिदास ने सौन्दर्य के आस्वाद का भी विश्लेषण किया है :

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघम्।
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ (२,१०)

उपर्युक्त छन्द में शकुन्तला के सौन्दर्य को अनघ—निर्दोष एवं निष्पाप कहा गया है और उसके आस्वाद का स्वरूप-विवेचन करने के लिए एक ओर अनाघ्रात पुष्प तथा अनास्वादित मधु के भोग के ऐन्द्रिय बिम्ब प्रस्तुत किए गए हैं और दूसरी ओर 'पुण्यों के अखण्ड फल' के रूप में एक सांस्कृतिक बिम्ब[1] की सृष्टि की गयी है। यहाँ कालिदास इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन कर रहे हैं

१. आइडियलिस्टिक इमेज।

कि सौन्दर्य की अनुभूति में ऐन्द्रिय तथा चिन्मय प्रतीतियों की युगपत् स्थिति रहती है—सौन्दर्य की अनुभूति, प्रक्रिया में ऐन्द्रिय होने पर भी, अपनी चरम परिणति में चिन्मय अर्थात् भाव-कल्पना तथा प्रज्ञा का विषय बन जाती है ; इसी तर्क से कालिदास अन्त में यह स्पष्ट कर देते हैं कि सौन्दर्य की अनुभूति सात्त्विक होती है : उसमें तमोगुण और रजोगुण का लेश नहीं होता : यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच: (कु० ५) ।

भारतीय दर्शन में सौन्दर्य का विवेचन न होकर आनन्द का विवेचन ही मिलता है; इसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति का विवेचन तो नहीं है किन्तु अनुभूति का अत्यन्त सूक्ष्म-गहन विश्लेषण हुआ है । अनुभूति या अनुभव में मूल पद है भूति या 'भव' और 'अनु' उपसर्ग है । पदार्थ के सन्निकर्ष से, इन्द्रियों के माध्यम से, मन में जो एक बिम्ब या आकार उत्पन्न हो जाता है वह 'भूति' या 'भव' है और उसके परिणामस्वरूप आत्मा में जो अनुवर्ती चेतना जाग्रत होती है वही 'अनुभूति' या 'अनुभव' है । सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि में पदार्थ की सत्ता वास्तविक मानी गयी है । पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर मन उसके बिम्ब को ग्रहण करता है जो अंशत: चेतना का विषय बन जाता है । इस प्रकार इनके मत से अनुभव में वस्तु का संस्कार निहित रहता है । उधर अद्वैत और बौद्ध दर्शनों को पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता मान्य नहीं है, अत: उनके अनुसार मन, पदार्थ का बिम्ब या आकार ग्रहण न कर, इस भौतिक क्रिया के फलस्वरूप स्वयं ही एक आकार धारण कर लेता है । इसका अर्थ यह हुआ कि अनुभव केवल चेतना रूप ही होता है जिसमें वस्तु-तत्त्व का अंतर्भाव नहीं रहता।

दार्शनिक तर्क-पद्धति से सौन्दर्यानुभूति का अर्थ होता है—पदार्थगत सौन्दर्य की अनुभूति । सुन्दर, भारतीय दर्शन में, प्राय: प्रिय अथवा प्रीतिकर का ही पर्याय है और प्रीतिकर वह है जिसकी सत्ता 'आत्मन: कामाय' होती है अर्थात् जो आत्मा का परितोष करता है । इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति एक प्रकार की आनन्दमयी चेतना है । आनन्द आत्मा का लक्षण है, अत: आनन्दानुभूति का अर्थ होता है आत्मास्वाद जो अखण्ड एवं चिन्मय होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि भारतीय दर्शन में आनन्द की व्याख्या के अन्तर्गत सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या प्रकारान्तर से निहित है । प्रेयस् के साथ सम्बद्ध होने के कारण सौन्दर्य की अनुभूति आनन्दमयी होती है और आनन्द की अनुभूति आत्मपरामर्श-रूप, अखण्ड, चिन्मय आदि होती है—यह सब तो भारतीय दर्शन में स्पष्ट रूप से मिलता है; किन्तु यह आनन्द किस प्रकार का है, विषयानन्द तथा आत्मानन्द से यह किस प्रकार और किस मात्रा में भिन्न है, इसका निर्वचन भारतीय दर्शन में नहीं हुआ । यह आगे चलकर काव्यशास्त्र में हुआ, परन्तु

काव्यशास्त्रीय विवेचन पर भी भारतीय दर्शन का गहरा प्रभाव है, यह नहीं भूलना चाहिए।

भारतीय दर्शन की दो और परस्पर सम्बद्ध अवधारणाएँ हैं—समाधि और तन्मयीभाव जिनका अभिनवगुप्त तथा अन्य आचार्यों ने रस अथवा कला-सौन्दर्य के आस्वाद के प्रसंग में अत्यन्त आग्रहपूर्वक उपयोग किया है। इन दोनों अवधारणाओं का योगदर्शन में विस्तार के साथ विवेचन हुआ है। समाधि का अर्थ है चितवृत्तियों का समीकरण—एकतानता, जबकि हमारी चित्तवृत्ति विविध विषयों में विकीर्ण न होकर आत्मस्थ हो जाती है। तन्मयीभाव का अर्थ है विषय के साथ पूर्ण तादात्म्य, जिस समय हमारा मन सभी ओर से अपसरण कर विषय-विशेष के साथ तदाकार हो जाता है और ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद मिट जाता है। यह स्थिति भी एक प्रकार से समाधि की ही स्थिति है जब प्रमाता का चित्त सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों—देशकाल, स्व-पर की सीमाओं से मुक्त हो जाता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्यास्वाद के विवेचन में इन अवधारणाओं का पूरा-पूरा उपयोग किया है और रस या सौन्दर्यानुभूति को स्वाकारवदभिन्न कहा है।

भक्तिशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक है। वैष्णव आचार्यों ने 'अवाङ्मनसा गोचर' ब्रह्म को 'त्रैलोक्य-सुन्दर' गोचर रूप में प्रतिष्ठित किया और उसके प्रति द्रवीभूत चित्त की तदाकार वृत्ति को भक्ति का लक्षण माना।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(भक्तिरसामृतसिंधु पूर्व वि० १.११)

—अन्य सभी प्रकार की कामनाओं से रहित, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत, पूर्णतः अनुकूल भाव से कृष्ण का अनुशीलन उत्तम भक्ति है।

इसी धारणा को और स्पष्ट करते हुए रूपगोस्वामी ने आगे लिखा है :

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

(भ० र० सिं० पू० वि० १, ११।१)

सभी प्रकार की उपाधियों (विघ्न, बंधन, परिसीमा आदि) से मुक्त, तन्मय होकर, विशुद्ध भाव से, समस्त इन्द्रियों के द्वारा भगवान् का सेवन भक्ति कहलाता है।

इस भाव विशेष का विश्लेषण करते हुए दो गुणों का उल्लेख किया गया

है : १. इसके आविर्भाव से प्रमाता का चित्त स्निग्ध और द्रवित हो जाता है और २. शुद्ध सत्त्वप्रधान स्थिति में अवस्थित हो जाता है :

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेम सूर्यांशुसाम्यभाक् ।
रुचिभिः चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ।।

(भ० र० सि० पू० वि० ३, १)

प्रेम-रूपी सूर्य की किरणों के समान अपनी कांति से चित्त को द्रवित करने वाला, शुद्ध सत्त्वविशेष रूप यह 'भाव' कहलाता है।

यह भक्ति चित्तवृत्ति में आविर्भूत होकर भगवान् के स्वरूप को प्राप्त करती हुई, स्वयंप्रकाशरूपा होने पर भी प्रकाश्य अर्थात् परतत्त्व के समान प्रतीत होती है। वस्तुतः यह आस्वाद रूप होती है, परन्तु भगवद्रूप हो जाने के कारण आस्वाद का कारण बन जाती है। (३. २-३)

भक्ति का यह स्वरूप-विवेचन रस अथवा सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप-विवेचन के अत्यंत निकट है : वास्तव में यह रस-विवेचन से ही प्रभावित है। इसमें सौन्दर्यानुभूति के अनेक प्रमुख लक्षणों—सत्त्व की प्रधानता, चित्त का द्रवण, विषय के साथ पूर्ण तादात्म्य, आस्वाद रूप होने पर भी आस्वाद्यवत् प्रतीति, प्रकाशरूपता अर्थात् चिन्मय भाव आदि का स्पष्ट उल्लेख है।

कलाशास्त्र में कला की निर्मिति और उसकी प्रविधि का वर्णन-विवेचन ही अधिक है, कलानुभूति के विषय में संगीतशास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र प्रायः विरल संकेत ही मिलते हैं। उपनिषद् में संगीत के आस्वाद को दिव्यानन्द रूप माना गया है। कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को संगीत के दिव्यानन्द का प्रलोभन देते हुए कहते हैं :

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरताः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते ।।

(१. १. २५-२६)

बृहदारण्यक में कहा गया है कि शतशः पितृलोक के सामूहिक आनन्द की अपेक्षा एक गन्धर्व-लोक का आनन्द श्रेष्ठ है। एक परवर्ती उपनिषद् के मत से संगीत के मर्म को पूर्ण रूप से समझने वाला व्यक्ति अमृतत्त्व को प्राप्त करता है : **तस्मादिदं सांगं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ।**—इसलिए सामविद्या को सांग रूप से जानना चाहिए; जो इसे जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। (नृसिंहतापिनी उपनिषद्—१,३)।

भरत ने नाट्यशास्त्र में गंधर्वविद्या की व्युत्पत्ति एवं व्याप्ति का उल्लेख

करते हुए कहा है कि यह देवताओं को अत्यंत प्रिय रही है—और इसकी अनुभूति प्रीतिकर होती है :

अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा प्रीतिकरं पुनः ।
गन्धर्वाणामिदं यस्मात् तस्माद् गान्धर्वमुच्यते ॥२८॥

'संगीतरत्नाकर' में संगीत के द्वारा चराचर के आनन्दमग्न होने की बात अत्यंत प्रबल शब्दों में कही गयी है। (१. २६-२९)।

चित्रकला के ग्रंथों में इस तथ्य को मानकर चला गया है कि चित्र-दर्शन से सहृदय के चित्त का अनुरंजन होता है : एकेषामेव तद्रम्यं लग्नं यत्र च यस्य हृत्। (शुक्रनीति ४. ४. १०७) अतः वहाँ कलानुभूति के स्वरूप का प्रश्न ही नहीं उठाया गया। इस संदर्भ में 'अभिलषितार्थचिंतामणि' में एक स्थान पर कौतुक शब्द का प्रयोग हुआ है :

शृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।
भावचित्रं तथाख्यातं चित्रकौतुककारकम् ॥३.१.९४१॥

जिसके दर्शन से श्रृंगारादि रसों की अनुभूति होती है, वह कौतुककारी रचना भावचित्र कहलाती है। कौतुक शब्द का अर्थ यहाँ विस्मय-मिश्रित आह्लाद ही है। इसी प्रकार 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के चित्रसूत्र में प्रायः इसी अर्थ में प्रशंसा शब्द का प्रयोग हुआ है :

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः ।

कलाविद् के चित्त में कृति के लिए जो प्रशंसा की भावना उद्बुद्ध होती है, वह भी विस्मययुक्त आह्लाद की ही प्रतीति है।

रस के साथ चित्र के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख सभी आचार्यों ने किया है। काव्य और नाट्य की भाँति चित्र में भी विभावादि द्वारा विभावित स्थायी भाव चर्वणा का विषय होकर रस रूप में परिणत हो जाता है :

काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः ।
आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ चन्द्रालोक ६; ३ ॥

यह मंतव्य भावचित्र के संदर्भ में अधिक सटीक बैठता है। यों तो सत्य या विद्ध चित्र की परिकल्पना भी सामान्यतः भाव-विरहित नहीं होती—जिस प्रकार कि काव्य के अन्तर्गत स्वभावोक्ति में स्वभाव-वर्णन का प्राधान्य होने पर भी रस का स्पर्श प्रकारान्तर से होता ही है; फिर भी शास्त्र के अनुसार लोक-सादृश्य या दर्पण-सादृश्य में ही सत्य या विद्ध चित्र का सौन्दर्य निहित रहता है।

विद्ध चित्र में उपलब्ध इस लोक-सादृश्य की प्रतीति भी निश्चय ही प्रीतिकर होती है, परन्तु उसमें भावतत्त्व की अपेक्षा एक अन्य प्रकार का चमत्कार प्रमुख रहता है जिसे अरस्तू ने 'प्रत्यभिज्ञान का आनन्द' और एडिसन ने 'कल्पना का आनन्द' कहा है।

सौन्दर्य के अन्य तत्त्वों की भाँति उसकी अनुभूति या आस्वाद का भी तात्त्विक विवेचन वस्तुतः काव्यशास्त्र में ही हुआ है। काव्य-सौन्दर्य के विषय में भारतीय आचार्यों के प्रायः दो प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं। आत्मवादी सम्प्रदाय यह मानते हैं कि काव्य का सौन्दर्य मूलतः उसके अंतस्तत्त्व में—अर्थात् मुख्य रूप से भावतत्त्व और गौण रूप से विचार तथा कल्पनातत्त्व में निहित है। इस वर्ग के अंतर्गत रस, ध्वनि तथा औचित्य सम्प्रदाय आते हैं। उधर देहवादी सम्प्रदायों की मान्यता है कि काव्य का सौन्दर्य उसकी रूप-निर्मिति अर्थात् शब्द-अर्थ के कुशल प्रयोग में ही निहित है। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त इसी मत के प्रवर्तक हैं। इस दृष्टिभेद के अनुसार आत्मवादी विचारकों के मत से सौन्दर्यानुभूति का प्रमुख तत्त्व है भाव और गौण रूप से उसमें कल्पना तथा बुद्धि-तत्त्व का मिश्रण रहता है। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है रस-सिद्धान्त जिसमें रसानुभूति सौन्दर्यानुभूति या कलानुभूति का पर्याय है। अतः यहाँ रस के आस्वाद अथवा यों कहें कि आस्वाद-रूप रस के स्वरूप-विवेचन के अंतर्गत सौन्दर्यानुभूति का विवेचन हुआ है।

रस-सम्प्रदाय का मूल ग्रंथ है नाट्यशास्त्र जिसमें रस के स्वरूप तथा आस्वाद या अनुभूति का विवेचन न होकर रस की निष्पत्ति का ही प्रत्यक्ष रूप में विश्लेषण किया गया है। भरत के मत से रस आस्वाद्य पदार्थ है—अर्थात् रंगमंच पर प्रदर्शित भावमूलक कलात्मक स्थिति है—सीधे शब्दों में भाव पर आश्रित नाट्य-सौन्दर्य का ही नाम रस है। उसकी निष्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है :

यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।[1]

—अर्थात्, जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, ओषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और ओषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं।

संयोग शब्द का अर्थ और भी स्पष्ट करते हुए भरत ने आगे लिखा है :

१. नाट्यशास्त्र (काव्यमाला स०) पृ० ६३-६४।

यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति ।[1]

—अर्थात् जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार द्रव्य, व्यंजन, ओषधि आदि का अन्न के साथ संयोग होने से षाडवादि अर्थात् भोज्य रस बनते हैं, इसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग होने से नाट्य रस बनते हैं या सिद्ध होते हैं। अतः रस-सूत्र का स्वयं भरत के अनुसार अर्थ हुआ—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग या संसर्ग होने से रस की सिद्धि होती है। आधारभूत तत्त्व है स्थायी भाव—जब वह विभावादि के साथ संयुक्त हो जाता है तो रस की सिद्धि हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार रस-सृष्टि एक प्रकार की मिश्र प्रक्रिया है जो कवि-कौशल तथा नट-कौशल—अर्थात् कल्पना और बुद्धि के द्वारा स्थायी भावों—मनोवेगों—के माध्यम से सम्पन्न होती है।

इसकी अनुभूति स्वस्थ-प्रसन्न चित्त के द्वारा 'हर्षादि' के रूप में होती है : **सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति**। 'हर्षादि' के वास्तविक अभिप्राय के विषय में कुछ विवाद रहा है। परन्तु हमारी अपनी धारणा है कि 'हर्ष-शोक आदि' की अपेक्षा 'हर्ष, विस्मय, कुतूहल' आदि अर्थ अधिक प्रसंग-सम्मत है : अर्थात् रसानुभूति अथवा (नाट्य-) कलानुभूति प्रत्येक स्थिति में प्रीतिकर ही होती है—उसके लिए चित्त का वैशद्य आवश्यक है और उसमें हर्ष, विस्मय, कुतूहल आदि प्रीतिकर भावों का ही मिश्रण रहता है, शोक, भय आदि अप्रीतिकर भावों का नहीं। जिस प्रकार रस की सृष्टि एक मिश्र प्रक्रिया है जिसमें भाव के आधार के अतिरिक्त कल्पना और बुद्धि का योग आवश्यक है, इसी प्रकार उसकी अनुभूति भी स्वभावतः एक मिश्र अनुभूति है जिसका आधार है मनोवेग किन्तु उसमें कल्पना और बुद्धि के तत्त्व भी निश्चय ही विद्यमान रहते हैं।

भरत के सूत्र को लेकर परवर्ती आचार्यों में घनघोर शास्त्रार्थ हुआ जिसमें विजय अन्ततः अभिनवगुप्त की हुई। उन्होंने शैवाद्वैत सिद्धान्त के आलोक

१. नाट्यशास्त्र (काव्यमाला सं०) पृ० ९३-९४।

में भरत के आस्वाद्य रस को आस्वाद रूप में परिभाषित किया । इस प्रकार रस और रसानुभूति, सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति का भेद मिट गया । रस-रसानुभूति, प्रकारान्तर से, सौन्दर्यानुभूति के विषय में—अभिनव के मत का सारांश इस प्रकार है :

१. लोकव्यवहार में कार्य-कारण सहकारी रूप लिंगों (अनुमापक हेतुओं) को देखकर (रत्यादि रूप) स्थायिभावात्मक, अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्षवीक्षण आदि (अनुभावों) के द्वारा (जो कि नाटकों में) कारणत्व आदि रूप को छोड़कर विभावना, अनुभावना एवं समुपरंजकत्व मात्र रूप को प्राप्त, इसलिए अलौकिक विभावादि नामों से कहे जानेवाले, कारणादि रूप पुराने संस्कारों के उपजीवित्व द्योतन के लिए विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये जानेवाले और भावाध्याय (सप्तम अध्याय) में भी जिनका स्वरूप आगे कहेंगे इस प्रकार के (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के) सामाजिक की बुद्धि में गुण-प्रधान भाव से भली प्रकार से योग अर्थात् सम्बन्ध अथवा एकत्रीभाव को प्राप्त हुए (विभावादि) के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न संवेदन रूप चर्वणा का विषय बनाया गया (रत्यादि रूप) अर्थ जिसका चर्वणा ही एकमात्र सार है न कि (घटादि के समान पहले से सिद्ध अर्थात्) विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस (चर्वणा के) काल में ही रहने वाला अर्थात् चर्वणा से अतिरिक्त काल में न रहने वाला (इसलिए भट्टलोल्लट तथा शंकुक आदि के रसाभिमत) स्थायिभाव से विलक्षण 'रस' होता है ।[1]

इसलिए अलौकिक-चमत्कार-स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न ही है ।

क्योंकि लौकिक अनुमान की प्रक्रिया से संस्कृत (सामाजिक, नाटकों में) प्रमदादि (विभावादि) को (लौकिक परगत रत्यादि के समान) तटस्थ रूप से

१. तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत एवाऽलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः, प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनस्थापनाय बिभावादिन मधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं संबंधमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः, अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालवलम्बी स्थायिविलक्षण एब रसः ।
(हिन्दी-अभिनवभारती—आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ३८३)

ग्रहण नहीं करता है। अपितु हृदयसंवादात्मक (समस्त सामाजिकों के हृदय की एकरूपता रूप) सहृदयत्व के बल से अखण्ड रसास्वाद के अंकुर रूप से, अनुभाव, स्मृति आदि की प्रक्रिया में आये बिना ही तन्मयीभाव से प्राप्त (उचित) चर्वणा के उत्पादक रूप से (प्रमदादि विभावों का अनुभव करता है।)

और वह चर्वणा (उस रसास्वाद से) पहले किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती है कि उसे स्मृति कहा जा सके। और न उसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार होता है। किन्तु अलौकिक विभावादि के संयोग के बल से ही यह चर्वणा प्राप्त होती है। और वह (रस-चर्वणा) (१) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि के ज्ञान से, तथा (२) योगिप्रत्यक्ष से होने वाले (अर्थात् दूसरे के द्वारा अनुभव किये जाने वाले रत्यादि के) तटस्थ पर-संवेदनात्मक ज्ञान से, एवं (३) समस्त विषयों के प्रति वैराग्ययुक्त (असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित) परमयोगी में रहने वाले स्वयं केवल स्वात्मानन्द के अनुभव (रूपसाक्षात्कारात्मक ज्ञान) से भिन्न प्रकार की होती है। क्योंकि इनमें यथायोग्य (१) (लौकिक-प्रमाणजन्य में) अर्जनादि रूप अन्य विघ्नों के आ जाने से (२) (प्रारम्भिक युज्जान योगी के प्रत्यक्ष में परगत रत्यादि का प्रत्यक्ष करने के कारण) ताटस्थ्य एवं अस्पष्टता होने के कारण, तथा (३) (परयोगी के प्रत्यक्ष में आत्मनिष्ठतारूप) विषयावेश की विवशता के कारण (सौन्दर्य) आह्लादकत्व का अभाव होने से (रसचर्वणा इन सबसे भिन्न प्रकार की है।)

३. इसलिए विभावादि रस के उत्पत्ति के कारण (अर्थात् कारक-हेतु) नहीं हैं। क्योंकि (यदि विभावादि को रस का कारक हेतु माना जाए तो) उसके ज्ञान के समाप्त हो जाने पर भी रस की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है।

१. तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृति-अनुमान-लौकिकस्वसंवेदन विलक्षण एव। तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः, प्रमदादि न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभवद्रसास्वादांकुरीभावेन अनुमान-स्मृत्यादिसोपानमनारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्रवणतया।

न च सा चर्वणा प्राङ्मानान्तरात्। येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः। किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यावबोधतः, तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात् सकलवैषयिकोपरागशून्य-शुद्ध परयोगिगतस्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्त-रोदयात् ताटस्थ्य-अस्फुटत्व-विषयावेशवैवश्येन च सौन्दर्यविरहात्।

(हिन्दी-अभिनवभारती—आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४८५)

और न (विभावादि रस के) ज्ञापक हेतु हैं कि जिससे वे प्रमाणों में गिने जाएं, क्योंकि (पूर्वसिद्ध घटादि के समान) प्रमेयभूत किसी पूर्व से विद्यमान रसादि की सत्ता नहीं है।

तो फिर ये विभावादि क्या हैं ?

चर्वणा में उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है। (लोकभाषा में उनकी ठीक स्थिति निर्दिष्ट नहीं हो सकती है।)[1]

और वह (प्रधान-चित्तवृत्तिरूप नायक की) एक चित्तवृत्ति, लौकिक गीतों के (नाटक या काव्य में आये हुए) गेय पदादि, लास्य (नृत्य-विशेष) आदि के दस अंगों से युक्त और स्वीकृत लक्षण वाले, गुण-अलंकार-गीत-वाद्य आदि के संयोग द्वारा अत्यन्त सौन्दर्य को प्राप्त काव्य की महिमा तथा नट के द्वारा की जाने वाली प्रयोग-परम्परा एवं अभ्यास-विशेष के प्रभाव से, (ये विभाव आदि मेरे हैं या दूसरे के हैं इस प्रकार के) स्वकीय-परकीय भाव से रहित हो जाती है, इसलिए साधारणीकरण हो जाने से (नायक की अपनी चित्तवृत्ति) सामाजिकों को भी अपनी सत्ता के भीतर समाविष्ट करती हुई, और नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति के तादात्म्य (अभेद-साधारणीकरण) होने के कारण ही अनुमान तथा आगम (रूप परोक्षात्मक) एवं (इन्द्रिय-संयोगादि रूप साधनों की अपेक्षा न रखने वाले, अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षादि के बिना ही उत्पन्न हो जाने वाले) योगिप्रत्यक्ष से उत्पन्न (करणक) तटस्थ (उदासीन, रसादि का अनुभव न करने वाले) प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण तथा परकीय लौकिक चित्तवृत्ति से भिन्न रूप से प्रतीत होने वाली (नायक-विशेष के) अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण, लौकिक प्रमदादि से उत्पन्न अपनी रति और शोक के (वर्णन के) समान (लज्जा-नाशादि रूप रसविरोधिनी) अन्य चित्तवत्ति के उत्पादन में अक्षम होने से ही निर्विघ्न अनुभूति की विश्रान्ति रूप आस्वादन नाम से कहे जाने वाले व्यापार के द्वारा गृहीत होने के कारण (**रस्यते इति रसः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार) 'रस' शब्द से कही जाती है।[2]

१. अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञप्तिहेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्हि एतद्धि विभावादय इति ? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेत्। भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरिचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

(हिन्दी-अभिनवभारती, पृ० ४८६-८७)

२. तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः

अभिनव की व्याख्यान-शैली में अर्थ-गरिमा के साथ शब्दाडंबर का भी विचित्र संयोग है। अतः उपर्युक्त उद्धरणों का अर्थ-विश्लेषण करना आवश्यक है :

१. लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, द्योतक तथा पोषक होते हैं, वे काव्य-नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किये जाते हैं। काव्य-निबद्ध हो जाने पर कारण-कार्यादि सम्बन्धों से मुक्त होकर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है और ये एक प्रकार का अलौकिक रूप धारण कर लेते हैं।

२. सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के समवेत रूप का प्रत्यक्ष अथवा मनसा साक्षात्कार या चवर्ण ही 'रस' है।

३. यह रस चर्वण अथवा आस्वाद से अभिन्न होता है—अर्थात् रस आस्वाद रूप ही होता है, आस्वाद्य रूप या आस्वाद का विषय नहीं। इस प्रकार स्थायी भाव रस नहीं है।

४. अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक अर्थात् स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्ष अनुभव आदि से भिन्न होता है। यह न कार्य है, न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक ज्ञान है और न निर्विकल्पक।

५. और, चर्वणा की इस स्थिति में प्रमाता का चित्त देश-काल, स्व, पर, तटस्थ आदि की सीमाओं से मुक्त एकतान, आत्मविश्रांतिरूप हो जाता है : अर्थात् रस अनिवार्यतः आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना है।

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः रस की इन्हीं विशेषताओं का प्रकारभेद से व्याख्यान किया है ; चौहदवीं शती के संग्राहक आचार्य विश्वनाथ ने रस-स्वरूप-विषयक इस व्याख्यान-विश्लेषण का सारांश अपने शब्दों में इस प्रकार

समस्तनाटकान्यतमकाव्यविशेषाश्च द्योतनीयोऽर्थः। स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषां जडानां संविदि, तस्याश्च भोक्तरि, भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानात्, नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः।

सा चैकचित्तवृत्तिः स्वकीय परकीयमिति प्रतीयमानानन्तचित्तवृत्त्यन्तर-शतविशेषितालौकिकगीतगेयपदादिलास्यांगदशकोपजीवनस्वीकृतलक्षणगुणालंकारगीता-तोद्यादिसम्यक्सुन्दरीभूत-काव्यमहिमप्रयोगमालाभ्यासविशेषाश्रयत्वात् स्वपरभावात् प्रच्याविता, अतएव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकरणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिक-चित्तवृतिविलक्षणतया निर्भासमाना, परिमितस्वात्माश्रयतानिर्भासनाविरहाच्च लौकिकप्रमदादिजनितनिजरतिशोकादिवत् चित्तवृत्त्यन्तरजननाक्षमा अत एव निर्विघ्नस्वसंवेदनात्मकविश्रान्तिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद् रसशब्देनाभिधीयते।

प्रस्तुत किया है :

> **सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।**
> **वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।**
> **लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।**
> **स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।** साहित्यदर्पण ३. २. ३

—चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान् सहृदय जन अखंड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त, ब्रह्मा-स्वादसहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं । इस परिभाषा के अनुसार—

१. रस आस्वादन का विषय है—किन्तु निज स्वरूप से अभिन्न रीति से, अर्थात् रस आस्वाद से अभिन्न है । रस आस्वाद-रूप है ।

२. उसका आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है ।

३. वह अखण्ड है ।

४. अन्य ज्ञान से रहित है ।

५. स्वप्रकाशानन्द है ।

६. चिन्मय है ।

७. लोकोत्तरचमत्कारमय है । और

८. ब्रह्मास्वादसहोदर—अर्थात् ब्रह्मास्वाद के अत्यधिक समान है ।

उपर्युक्त उद्धरण की अधिकांश शब्दावली शास्त्रीय एवं पारिभाषिक है —अतः आधुनिक शब्दावली में उसका पुनराख्यान आवश्यक है ।

१. रस का अपने स्वरूप से अभिन्न रीति से आस्वादन किया जाता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि रस मूलतः आस्वाद रूप ही है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं है—किन्तु फिर भी व्यवहार में 'रस का आस्वादन किया जाता है' ऐसा प्रयोग होता है । इस विरोधाभास को हृदयंगम करने के लिए अद्वैत सिद्धान्त की शरण लेनी होगी । अद्वैत दर्शन के अनुसार केवल एक आत्मतत्त्व की ही सत्ता है—तत्त्वतः यह आत्मा आनन्द रूप है, आनन्द इसका स्वभाव है भोग्य पदार्थ नहीं है, फिर भी व्यवहारतः आत्मा द्वारा आनन्द के भोग की चर्चा शास्त्रों में बराबर मिलती है । इस प्रकार आत्मा, आनन्द और भोग—अर्थात् आस्वादयिता, आस्वाद्य और आस्वाद तत्त्व रूप में एक हैं, केवल व्यवहार रूप में भिन्न हैं ।

रस आस्वाद-रूप है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं—इसका अर्थ यह हुआ कि भरत तथा ध्वनिपूर्व काल के अलंकारवादियों की वस्तुपरक व्याख्या अशुद्ध है । रस शब्दार्थ-सौन्दर्य या नाट्य-सौन्दर्य का पर्याय नहीं है । शब्दार्थ-सौन्दर्य तथा

नाट्य-सौन्दर्य तो 'काव्य' और 'नाट्य' है जो रस का निमित्त है : रस तो इनका आस्वाद है—दार्शनिक शब्दावली में, इनके निमित्त से आत्मतत्त्व का आस्वाद है।

२. रस का आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है। रजोगुण और तमोगुण से असंस्पृष्ट अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं—सामान्य शब्दावली में सांसारिक रागद्वेष से मुक्त चित्त का वैशद्य ही सतोगुण की स्थिति है। अतः उपर्युक्त वाक्य का आशय यह हुआ कि (क) रस का आस्वाद रागद्वेष से मुक्त चित्त के वैशद्य या समाहिति की अवस्था में ही सम्भव है। और (ख) यह आस्वाद ऐन्द्रिय उत्तेजना आदि से भिन्न सात्त्विक—अर्थात् अत्यन्त परिष्कृत कोटि का होता है। यह स्थापना मूलतः भट्टनायक ने की है—अभिनव ने इसे प्रायः यथावत् स्वीकार कर लिया है।

३. रस अखण्ड है : इस उक्ति का विवक्षित अर्थ व्यापक है। (क) एक तो इसका आशय यह है कि रसानुभूति में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूति नहीं होती वरन् सभी की समंजित—अथवा एकान्वित अनुभूति होती है। (ख) दूसरी विवक्षा यह भी है कि रसानुभव में, आत्मा का पूर्ण तन्मयीभाव होने के कारण, मात्राभेद अर्थात् कोटियाँ नहीं होतीं। पूर्णता में तारतम्य की सम्भावना नहीं है—क्योंकि पूर्ण से पूर्णतर की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती और जो पूर्ण से कम है वहाँ रस की स्थिति नहीं है।

४. रसानुभव अन्य ज्ञान या अनुभव से रहित है। जैसा कि अभी स्पष्ट किया, रस पूर्ण तन्मयीभाव की स्थिति है और तन्मयीभाव में स्वभाव से ही अन्य ज्ञान की संभावना नहीं रहती। वर्तमान सन्दर्भ में इसका आशय यह है कि रस की स्थिति में प्रमाता स्व, पर, तटस्थ आदि की भावना से मुक्त हो जाता है—देश-काल का बन्धन उसे नहीं व्यापता और वह प्रस्तुत प्रसंग के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता हुआ कुछ समय के लिए सर्वथा आत्मलीन हो जाता है।

५,६. रस स्वप्रकाशानन्द है और चिन्मय है। यह शब्दावली भी प्रायः भट्टनायक के वक्तव्य से ही प्रेरित है। इसका अर्थ यह है कि रसानुभूति आत्मचैन्तय से प्रकाशित आनन्दमयी चेतना है—अर्थात् यह एक प्रकार की आनन्दमयी चेतना है और इस आनन्द में मृण्मय अर्थात् ऐन्द्रिय अनुभूति का प्रायः अभाव तथा चैतन्य आत्मास्वाद का सद्भाव रहता है। वस्तुतः यहाँ भी प्रकारान्तर से वही बात कही गयी है जिसका उल्लेख सत्त्वोद्रेक के प्रसंग में हो चुका है—रसानुभव एक प्रकार का स्वस्थ-परिष्कृत आनन्द है—वह ऐन्द्रिय आनन्द अथवा विषय-सुख की कोटि का आनन्द नहीं है।

७. रस लोकोत्तरचमत्कारप्राण है—रस न प्रत्यक्ष अनुभव है, न परोक्ष; न कार्य है, न ज्ञाप्य है; न सविकल्पक अर्थात् ऐसा ज्ञान है जिसमें ज्ञाता की चेतना विद्यमान रहती है और न निर्विकल्पक अर्थात् ऐसा ज्ञान है जिसमें ज्ञाता की चेतना विलीन हो जाती है। इस प्रकार सभी तरह की लौकिक परिभाषाओं से मुक्त होने के कारण वह अनिर्वचनीय है और अलौकिक है। वास्तव में यह अलौकिक शब्द अत्यन्त विवादास्पद है और इसी को लेकर आधुनिक विचारकों ने रस-सिद्धान्त पर अनेक आक्षेप किये हैं। काव्य लोक की वस्तु है अतः उसका आस्वाद अलौकिक कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में रस के समर्थकों ने कहा कि अलौकिक का अर्थ अतिप्राकृतिक नहीं है, अतीन्द्रिय है—अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा उसका अनुभव नहीं किया जाता।[1]

८. रस ब्रह्मास्वादसहोदर है—ब्रह्मास्वाद के समान है। रस विषयानन्द से भिन्न है, उसका अनुभव चिन्मय है: वह इन्द्रियों का विषय न होकर चैतन्य आत्मा का विषय है। किन्तु फिर भी वह शुद्ध आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द नहीं है, क्योंकि (क) ब्रह्मानन्द स्थायी होता है, रस अस्थायी; (ख) रस में लौकिक विषयों का सर्वथा तिरोभाव नहीं होता:

रस के उपर्युक्त स्वरूप के विषय में तीन मौलिक प्रश्न उठते हैं:

१. रसानुभूति और भावानुभूति का क्या सम्बन्ध है?

२. क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?

३. यदि है, तो इस आनन्द का स्वरूप क्या है?

भारतीय काव्यशास्त्र में इनका उचित रीति से समाधान किया गया है। रस निश्चय ही भाव पर आश्रित है—अर्थात् भाव की भूमिका के बिना रस की स्थिति सम्भव नहीं है। नाट्यशास्त्र का यह सूत्र प्रमाण है: **न भावहीनोऽस्ति रसो, न भावो रसवर्जितः।** (६.३७) किन्तु फिर भी रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है—किसी भी स्थिति में भाव की अनुभूति रस नहीं हो सकती: न स्वगत भाव की और न परगत भाव की, न परोक्ष अनुभूति और न प्रत्यक्ष अनुभूति। इसका कारण यह है कि लौकिक जीवन में भाव के आलम्बन, उद्दीपन आदि सभी विशिष्ट—अर्थात् देशकाल की सीमा में परिबद्ध, स्व-पर की भावना से आविष्ट असाधारणीकृत होते हैं। व्यक्तिगत रागद्वेष में लिप्त होने के कारण प्रमाता की चेतना यहाँ वीतविघ्न नहीं होती। अतः, भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार, रस भाव पर आश्रित अवश्य है; वह भाव का ही आस्वाद है परन्तु व्यक्तिबद्ध भाव का नहीं साधारणीकृत भाव का।

रस को अधिकांश आचार्यों ने आनन्दमयी चेतना ही माना है: (क)

१. देखिए, पं० केशवप्रसाद मिश्र के विचार—साहित्यालोचन (१९६९), पृ० २८०।

(क) अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशंका।—

—हमारे मन में तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप (आत्मा) का ही आस्वादन (रस रूप में) होता है। उसमें दुःख की शंका कैसे हो सकती है? (अभिनवगुप्त —हिन्दी अ० भा०, पृ० ५०७)

(ख) मम्मट ने रस को सकलप्रयोजनमौलिभूत एवं रसास्वाद को आनन्द रूप माना है।

सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। (काव्य प्र० १, २, वृत्ति)

(ग) **स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः रत्यादिरेव रसः।**

रति आदि स्थायी भाव ही सत्य तथा विज्ञान रूप स्वतः प्रकाशमान् आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर रस में परिणत हो जाते हैं।[1]

इन आचार्यों ने दार्शनिक और व्यावहारिक—दोनों प्रकार के तर्कों से रसानुभूति की आनन्दरूपता सिद्ध की है: **'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति'** इत्यादि श्रुतिः। **सकलसहृदय प्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम्।** रस की आनन्दरूपता के दो प्रमाण हैं—एक, वेद के ये वाक्य :—'आत्मा रस रूप है' 'रस को प्राप्त कर ही यह आनन्दरूप होता है' और दूसरा सम्पूर्ण सहृदय-समाज का प्रत्यक्ष अनुभव।[2]

संस्कृत काव्यशास्त्र का बहुमान्य मत यही है। परन्तु यह निर्विरोध नहीं रहा—जैन आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रस की आनन्दरूपता का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है:

'सुखदुःखात्मको रसः'—अर्थात् रस सुखात्मक तथा दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। ना० द० ३, १०९

× × ×

उनमें से इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप-सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत (ये पाँच) सुख-प्रधान रस हैं, और अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं।

जैन आचार्य यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सभी रस सुखात्मक होते हैं।

"(कुछ आचार्यों द्वारा) जो सब रसों को सुखात्मक बतलाया जाता है

१. रसगंगाधर (चौखम्बा) प्र० आ०, पृ० ८०।

२. वही, पृ० ९०।

वह प्रतीति के विपरीत (होने से अमान्य, असंगत) है। मुख्य (अर्थात् वास्तविक) विभावों से उत्पन्न (करुण आदि की दुःखात्मकता) की तो बात ही जाने दो, काव्य के अभिनय में प्राप्त (बनावटी) विभाव आदि से उत्पन्न हुआ भी भयानक, बीभत्स, करुण अथवा रौद्र रस आस्वादन करनेवालों की कुछ अवर्णनीय-सी क्लेशदशा को उत्पन्न कर देता है। इसीलिए भयानक आदि से सामाजिक को घबराहट होती है। सुखास्वाद से तो किसी को उद्वेग नहीं होता है।"[1]

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में रस की आनन्दरूपता का इतना स्पष्ट विरोध अन्यत्र नहीं मिलता—रुद्रभट्ट ने अपनी 'रसकलिका' में एक स्थान पर रस की उभयात्मक प्रकृति का निरूपण किया है।

'करुणाभयानामप्युपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते।'

—अर्थात् सामाजिक के लिए करुणाप्रधान प्रसंगों या भावों की भी उपादेयता है; रस की सुखदुःखात्मकता के कारण उसका उभयात्मक स्वरूप सिद्ध होता है।[2]

इस पक्ष में कुछ अन्य आचार्यों का भी नाम लिया जा सकता है—जैसे लोल्लट या अभिनवभारती में उल्लिखित सांख्यवादी आचार्य आदि का—जो निश्चय ही रस को, स्थायी भाव का उपचित रूप मानने के कारण, सुखदुःखात्मक रूप में स्वीकार करते थे।

—फिर भी, कुल मिलाकर विरोध का स्वर कभी प्रबल नहीं हो पाया और हमारे शास्त्रचिंतन को उसने विशेष रूप से प्रभावित नहीं किया।

इस आनन्द के स्वरूप के विषय में भारतीय आचार्य ने दर्शन का ही आधार ग्रहण किया है। आनन्द के तीन स्तर हैं: विषयानन्द, आत्मानन्द और काव्यानन्द। पण्डितराज ने इन तीनों के भेद का निर्वचन करते हुए काव्यानन्द का स्वरूप-विश्लेषण इस प्रकार किया है:

१. लौकिक सुख (विषयानन्द) = आनन्दाभास = चैतन्याभास से आभासित अन्तःकरण की वृत्तियों के विषय-सामंजस्य से मिलने वाला अन्तःकरण-वृत्ति-रूप।

२. ब्रह्मानन्द = आत्मानन्द (विशुद्ध) = निरुपाधिक चैतन्य का स्वरूपानन्द।

३. काव्यानन्द (रस) = आत्मानन्द—सोपाधिक = सोपाधिक चैतन्य

१. हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० २६१।
२. रुद्रभट्ट—रसकलिका (मद्रास, पांडुलिपि), पृ० ५१-५२
—डॉ० राघवन के ग्रन्थ 'दि नम्बर ऑफ रसज़' से उद्धृत।

का आनन्द, विशुद्ध रत्यादि की उपाधि से उपहित चैतन्यकाराकारित चितवृत्ति का आनन्द ।[1]

इस प्रकार काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द में अन्तर है, परन्तु वह प्रकृति का नहीं है, गुण का है । काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों आत्मानन्द के ही भेद हैं—काव्यानन्द में विशुद्ध (साधारणीकृत) रत्यादि की भूमिका रहती है, अतः वह अस्थायी है और सोपाधिक है; ब्रह्मानन्द में इस प्रकार की कोई भूमिका नहीं रहती, अतः वह स्थायी और निरुपाधिक है । विषयानन्द में भी आनन्द तत्त्व आत्मपरामर्श या आत्मास्वाद का ही वाचक है, किन्तु वह विषय से ग्रस्त है अर्थात् प्रकृति के दोष उसमें विद्यमान हैं : भोग्य जड़ पदार्थ की स्थूलता और उससे प्रेरित भोक्ता चित्त के रागद्वेष उससे संलग्न हैं; अतः वह मिश्रित है, अपेक्षाकृत स्थूल तथा मृण्मय अंश से आविष्ट है । काव्यास्वाद=रस की स्थिति मध्यवर्ती है; वह विषयानन्द की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं चिन्मय है : अधिक सूक्ष्म-परिष्कृत है, और ब्रह्मानन्द की अपेक्षा अधिक स्थूल ।

उपर्युक्त विवेचन में सौन्दर्य के स्वरूप और उसकी अनुभूति की, भाववादी दृष्टिकोण से, अत्यन्त सूक्ष्म-गहन एवं मूलग्राही व्याख्या की गयी है—क्योंकि, जैसा कि हमने आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है, रस वास्तव में भावमूलक सौन्दर्य ही का पर्याय है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस के अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धांतों का भी प्रवर्तन और विकास हुआ, जिनका दृष्टिकोण भावमूलक न होकर वस्तुनिष्ठ है—अर्थात् जो काव्य के सौन्दर्य को भावगत न मानकर शब्दार्थगत मानते हैं। इनमें प्रमुख हैं अलंकार और रीतिसिद्धान्त : इनके अनुसार काव्य का सौन्दर्य भाव में निहित न होकर शब्दार्थ के कुशल प्रयोग अथवा रचना-चमत्कार में निहित रहता है—और सौन्दर्य की अनुभूति या आस्वाद भाव का आस्वाद न होकर इसी रचना-चमत्कार की आनन्दमयी प्रतीति का नाम है । वामन ने रचना-नैपुण्य को ही काव्य की आत्मा अथवा मूल सौन्दर्य माना है । रचना-नैपुण्य का चरम उत्कर्ष मिलता है वैदर्भी रीति में जो समग्र गुणसम्पन्न होती है । वामन के अनुसार रचना-सौन्दर्य के आधार हैं गुण—दस शब्दगुण और दस अर्थगुण जिनका पूर्ण परिपाक वैदर्भी रीति में मिलता है । वामन के गुण-विवेचन की परीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका बल शब्द-गुणों पर ही अधिक है—उनके अर्थगुणों में से अनेक दोषाभाव रूप हैं, और कुछ उक्ति-वैचित्र्य तथा वर्णन-शैली के प्रकार मात्र हैं । इस प्रकार एक ओर वर्ण-मैत्री, शब्द-गुम्फ और तज्जन्य लय-विधान, उधर दूसरी ओर कथन की विविध

१. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त, पृ० २०४।

भंगिमाओं—जैसे समास-शक्ति, व्यास-शक्ति, अर्थ-व्यक्ति, उक्ति-चमत्कार आदि के द्वारा सफल कवि रचना में सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है और विवेकी पाठक अपनी शिक्षा एवं अभ्यास के द्वारा उसका आस्वादन करता है।

वामन ने उपर्युक्त गुण-सम्पदा को आस्वाद्य एवं संवेद्य—अर्थात् आस्वादन तथा संवेदना का विषय माना है :

तस्यां अर्थगुणसम्पदास्वाद्या ।—उसमें अर्थगुणों का वैभव आस्वादन का विषय होता है। का० सू० वृ० १. २. २०)

नासन्तः सद्वेद्यत्वात् (संवेद्यत्वात्)—(मर्मज्ञ पाठक द्वारा) संवेद्य होने के कारण ये गुण असत् नहीं हैं। (का० सू० वृ० ३. १. २६)

रीतिमत के अनुसार रचना-सौष्ठव तथा वर्णन-चमत्कार की यह अनुभूति ही काव्यगत सौन्दर्य की अनुभूति है। यह अनुभूति प्रीतिकर है, इसमें सन्देह नहीं :

१. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्—सुन्दर काव्य प्रीति अर्थात् आनन्द और कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है। १. १. ५।

२. **किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,**
यस्यां न किंचिदपि किंचिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ।।

किन्तु वह (वैदर्भी रीतिमयी) कुछ और ही (प्रकार की लोकोत्तर) पद-रचना है जिसमें (निबद्ध होने पर) न कुछ (तुच्छ या असत्) सी वस्तु भी कुछ (अलौकिक चमत्कारमय) सी प्रतीत होती है। और सहृदयों के कर्ण-गोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करती है मानो (कहीं से) अमृत की वर्षा हो रही है :

३. **वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री ।**
वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति ।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रंजकः कोऽपि पाकः ।।२१।।

जिस (वैदर्भी रीति) को (काव्य रूप) वाक्य में प्राप्त करके शब्द सौंदर्य (वाचकश्री) थिरकने लगता है, जहाँ (वैदर्भी रीति में पहुँचकर) नीरस (वितथ) वस्तु भी सरस (अवितथ) हो उठती है, सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करनेवाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाक वैदर्भी रीति में

(ही) कहीं उदय हो जाता है। (जिसके कारण शब्द-शोभा मानों नाचने सी लगती है और नीरस वस्तु भी सरस हो जाती है। (टीकाकार ने वितथ शब्द का अर्थ नीरस और अवितथ शब्द का अर्थ सरस किया है।) ॥ २१ ॥

किन्तु इस अनुभूति में भाव-तत्त्व का प्रायः अभाव है—या वह केवल एक गौण उपकरण मात्र है। इसका अधिकारी है विवेकी अर्थात् शब्द-अर्थ और रचना-कौशल का मर्मज्ञ, न कि सवासन या भावुक पाठक।[1] उपर्युक्त श्लोक में सहृदय शब्द का प्रयोग रसज्ञ के अर्थ में न होकर रचना-शिल्प के मर्मज्ञ के अर्थ में ही किया गया है। रचना-शिल्प तथा वर्णन-चमत्कार का यह मर्मज्ञान हृदय या भावना का विषय न होकर श्रवणेन्द्रिय, कल्पना तथा बुद्धि का ही विषय है। **अतः रीति-सिद्धान्त के अनुसार, सौन्दर्यानुभूति के अन्तर्गत आनन्द-तत्त्व के अतिरिक्त ऐन्द्रिय तत्त्व (नादगुण), कल्पनातत्त्व तथा बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता है और भावतत्त्व की स्थिति गौण, साधक उपकरण के रूप में ही है।**

अलंकारवादी का दृष्टिकोण इतना अधिक वस्तुनिष्ठ नहीं है; वह भी सौन्दर्य को शब्दार्थगत ही मानता है, : शब्द-अर्थ की परिधि के बाहर भाव या विचार के उत्कर्ष में वह भी सौन्दर्य का संधान नहीं करता। पर उसका मूल अवधान उक्ति-वैचित्र्य पर है, रचना-शिल्प पर नहीं—शब्द-अर्थ के चमत्कारपूर्ण प्रयोग पर है, संघटना पर नहीं। शब्द-अर्थ का चमत्कार ही (काव्य) सौन्दर्य है और उसका आस्वादन या प्रतीति ही सौन्दर्यानुभूति है। यह प्रतीति एकांत रूप से प्रीतिकर होती है : इसमें अलंकारवादी को भी कोई सन्देह नहीं है : **प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्य-निषेवणम्।**

भामह काव्यालंकार १. २.

प्राचीन अलंकारवादी आचार्य भामह और दण्डी ने काव्यानन्द के लिए अपारि-भाषिक रूप में रस शब्द का प्रयोग भी किया है :

भामह—**स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।**
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥

स्वादु काव्य-रस से युक्त शास्त्र भी ग्राह्य बन जाता है। जो पहले शहद चाट लेते हैं, वे कटु ओषधि को (सरलता से) पी लेते हैं।

(काव्यालंकार, ५. ३.)

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निसिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥ (काव्यादर्श १. ६२)

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १. २. १।

भले ही सभी प्रकार के अलंकारगण (शब्दार्थ तदुभयगत तत्तदलंकार) अर्थ में रस का निषेक (आधान) करें, परन्तु बाहुल्येन, प्रायः करके, अर्थ में रसनिषेक का भार अग्राम्यता ही ढोती है।

उपर्युक्त प्रसंगों में 'रस' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में — '**विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्त स्थायिभाव**' के अर्थ में न होकर, सामान्य रूप से, '**काव्यानन्द**' के अर्थ में ही हुआ है। काव्य के इस आनन्द में ऐन्द्रिय तत्त्व अर्थात् नादगुण का भी योगदान निश्चय ही रहता है। शब्दालंकार-वर्ग में अनुप्रास और उसके विविध रूपों का प्राधान्य इसका प्रमाण है : वर्ण-मैत्री तथा शब्दगुम्फ अर्थात् झंकृति तथा लय का काव्य-भाषा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। किन्तु, शब्द-अर्थ के चमत्कार का यह केवल एक तत्त्व है। इसकी अपेक्षा कल्पना-तत्त्व, और एक सीमा तक, बुद्धि-तत्त्व का महत्त्व अधिक है।

अलंकारों के चमत्कार का विश्लेषण करते हुए सामान्यतः उन्हें छह वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : साम्य (साधर्म्य-सादृश्य)-मूलक, अतिशयमूलक, वैषम्यमूलक, वक्रतामूलक, संगतिमूलक और कुतूहलमूलक। साम्यमूलक अलंकार, उपमा-रूपक आदि, कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान के द्वारा प्रमाता की चेतना का प्रसादन करते हैं। अतिशयमूलक अलंकार हमारी चित्तवृत्ति को ऊर्जस्वित करते हुए चेतना का विस्तार करते हैं। वैषम्यमूलक अलंकार, वैषम्य के द्वारा—शब्दगत अथवा अर्थगत निषेध के द्वारा प्रमाता को आश्चर्य-चकित कर, विरोध में अविरोध की प्रतीति कराते हुए, उसकी चेतना का रंजन करते हैं। वक्रतामूलक अलंकार यह कार्य जिज्ञासा की उद्‌बुद्धि द्वारा सम्पन्न करते हैं। यहाँ वक्रता का अर्थ है अप्रत्यक्ष कथन। गोपन प्रकाशन से भी सूक्ष्मतर कला है। वक्रता पर आश्रित अलंकार अप्रत्यक्ष कथन अथवा अर्थ-गोपन के द्वारा हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न कर देते हैं : वे हमारी बोधवृत्ति को कुछ क्षण के लिए दूसरी दिशा में प्रवृत्त कर फिर अभीष्ट अर्थ की ओर प्रेरित करते हैं। इस प्रक्रिया से, कल्पना के जाग्रत हो जाने के कारण, हमारी चेतना चमत्कृत हो उठती है। अब रह जाते हैं कुतूहलमूलक अलंकार—श्लेष, यमक आदि—तथा इनके प्रस्तार-रूप चित्रालंकार। इनका सम्बन्ध बुद्धि के व्यायाम से अधिक है और योजना में भी प्रायः बुद्धि का ही योगदान अधिक रहता है, इसलिए इनकी प्रतीति में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता रहती है। फिर भी, ये, एक सीमा तक, कल्पना को चमत्कृत कर प्रमाता की चेतना में कुतूहल उत्पन्न करते हैं, अतः इनकी प्रतीति में बुद्धि-तत्त्व के अतिरिक्त कल्पना-तत्त्व का भी सद्‌भाव रहता है और प्रमाता उसका आनन्द लेता है।

इस प्रकार अलंकार-सिद्धान्त में प्रतिपादित काव्यास्वाद या सौन्दर्यानु-

भूति अनिवार्यतः आनन्दमयी प्रतीति है। यह आनन्द मूलतः कल्पना का आनन्द है जिसमें बुद्धि-तत्त्व का भी योग रहता है : राग-तत्त्व का निषेध इसमें नहीं है क्योंकि विस्मय और कुतूहल भी तो भाव ही हैं, परन्तु उसकी स्थिति, रसवदादि अलंकारों को छोड़कर, (जो वास्तव में सर्वमान्य अलंकार नहीं हैं) गौण ही है। नाद-तत्त्व—अर्थात् ऐन्द्रिय तत्त्व का महत्त्व भी यहाँ रीति-सिद्धांत की अपेक्षा बहुत कम है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का दृष्टिकोण उभयनिष्ठ है। वक्रोक्ति एक प्रकार से काव्य-कला का ही पर्याय है : कुंतक कवि-प्रतिभा को काव्य-सौन्दर्य का कारण और कवि-कौशल को उसका पर्याय मानते हैं। इस प्रकार काव्यास्वाद कवि-कौशल अथवा काव्य-कला की ही प्रतीति है। यह प्रतीति प्रत्येक स्थिति में आह्लादमय होती है। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति की आनन्दरूपता के विषय में आत्मवादी सम्प्रदाय—रस—में तो विकल्प एवं विवाद के लिए थोड़ा-बहुत अवकाश रहा है, परन्तु देहवादी सम्प्रदाय—अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति—एकदम निर्भ्रांत हैं। कुंतक के मन में, इस संबंध में, किसी प्रकार की शंका नहीं हैं—उन्होंने प्रबल शब्दों में इसकी घोषणा की है :

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

—अर्थात् काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वालों (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है।

उपर्युक्त कारिका में काव्य-सौन्दर्य के लिए 'काव्यामृतरस' पद का प्रयोग किया गया है। 'अमृतरस' वस्तुतः दिव्य-अलौकिक तथा सात्त्विक सौन्दर्य का सूचक है : उसका आस्वाद पुरुषार्थ-चतुष्टय-जन्य आनन्द से भी बढ़कर—अधिक परिष्कृत और प्रीतिकर होता है। कुंतक ने इस संदर्भ में आह्लाद, चमत्कार, आमोद आदि शब्दों का अत्यन्त आग्रहपूर्वक बार-बार प्रयोग किया है। यह आनन्द काव्य-कला या कवि-कौशल का आस्वादन है और कवि-कौशल कवि-प्रतिभा पर निर्भर करता है। कवि-प्रतिभा में सर्जनात्मक कल्पना का ही प्राधान्य रहता है जो आह्लादकारी रमणीय रूपों की—नव-नव सौन्दर्य-रूपों की सृष्टि करती है। कुंतक के मत से, इसके व्यापार का प्रसार शब्द के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंग—वर्ण, उपसर्ग, प्रत्यय से लेकर महाकाव्य के प्रबन्ध-विधान तक है। एक ओर जहाँ यह शब्द-अर्थ के रहस्य का उन्मेष करती है, वहाँ दूसरी ओर वस्तु के मर्म का उद्घाटन भी :

तदिदमत्र तात्पर्यम्—यन्न वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः

सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुटतां चैषां तथाविधः कोप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामधिरोप्यन्ते। तदिदमुक्तम्—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोरममिदं वाचैव यो वा बहिः।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ............ ॥

(कुंतक—हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३०६)

लोक में केवल सत्ता मात्र से प्रतीत होने वाले इन पदार्थों में कवि कुछ इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देता है जिससे वे साधारण लौकिक पदार्थ भी सहृदयों के हृदय को हरण करने वाली किसी अपूर्व रमणीयता को प्राप्त हो जाते हैं। यही बात निम्नोक्त श्लोक में कही है :—"जो वस्तुओं के भीतर निहित सूक्ष्म और सुन्दर तत्त्व को अपनी वाणी से बाहर खींच लाता है और जो वाणी मात्र से इस जगत् की बाहर अभिव्यक्ति करता है, उन दोनों कविवरों को मैं नमस्कार करता हूँ...।" प्रबन्ध-विधान के अन्तर्गत कवि-कल्पना का कार्य प्रसंगों का नियोजन तो है ही, परन्तु रस के निषेक का महत्त्व भी कम नहीं है : कुशल कवि विविध प्रकार से रस की योजना कर काव्य की कथावस्तु में सौन्दर्य की उद्भावना करता है। इस प्रकार, कवि-प्रतिभा में कल्पना-तत्त्व की प्रधानता होने पर भी रागतत्त्व का योग कम नहीं है। कुंतक द्वारा पारिभाषित काव्यानन्द अथवा सौन्दर्यानुभूति के अन्तर्गत इन दोनों तत्त्वों का संयोग इसी अनुपात में रहता है : बुद्धि-तत्त्व और ऐन्द्रिय तत्त्व की स्थिति यहाँ अपेक्षाकृत गौण है।

ध्वनि-सिद्धांत में भी कल्पना पक्ष ही प्रबल है, परन्तु यह कल्पना कवि की न होकर भावक की है और प्रायः रसावलम्बी है। ध्वनि में काव्य की अपेक्षा व्यंग्य का अतिशय रहता है और अतिशय का आधार है चारुत्व जो प्रायः रस या भाव-सौन्दर्य पर निर्भर करता है। वास्तव में ध्वनिकार को रस के प्रति इतना अधिक आग्रह है कि ध्वनि को अनिवार्य घोषित करने पर भी वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उसमें रस का निषेक आवश्यक मानते हैं। वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि में भी चारुत्व की सृष्टि करने वाला तत्त्व भाव-सौन्दर्य ही है, और गुणीभूतव्यंग्य के भी उदाहरणों में चारुत्व का आधार, गौण होने पर भी, भाव ही है। केवल चित्रकाव्य में उसका अभाव रहता है जिसे अधम काव्य की संज्ञा दे दी गयी है : वहाँ कल्पना के साथ बुद्धि-तत्त्व का योग हो जाता है। इस प्रकार ध्वनि का आस्वाद भाव-प्रेरित कल्पना का ही आस्वाद है जो निश्चय रूप से प्रीतिकर होता है : **तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये**

तत्स्वरूपम्। १. १।—अतः सहृदयों की प्रसन्नता के लिए उस ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

इस अनुभूति में नवीनता की अनुभूति अर्थात् विस्मय का भाव भी निश्चय ही विद्यमान रहता है:

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्।
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ॥
—स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते।

अर्थात् जहाँ सहृदयों को—'यह कोई नयी स्फुरणा या सूझ है', इस प्रकार की अनुभूति होती है, जो भी हो (नयी या पुरानी) वही वस्तु रम्य कहलाती है। —जिसके विषय में 'यह कोई नयी सूझ है' इस प्रकार की चमत्कृति सहृदयों के मन में उत्पन्न होती है। (ध्वन्यालोक च० उ० १५वीं कारिका का अन्तरश्लोक)

इस प्रकार, सौन्दर्य-चेतना के विषय में ध्वनि-सिद्धांत का दृष्टिकोण रस-सिद्धांत और वक्रोक्तिवाद से थोड़ा भिन्न है। रस-सिद्धांत से भेद यह है कि यहाँ भाव-समाधि की अपेक्षा चमत्कृति अर्थात् रमणीय अर्थ की प्रतीति का आधिक्य रहता है। वक्रोक्तिवाद से यह अन्तर है कि इसमें भावतत्त्व का योगदान अपेक्षाकृत अधिक रहता है।

सारांश यह है कि—

भारतीय काव्यशास्त्र द्वारा प्रस्तुत सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप-विश्लेषण में भाव, कल्पना, बुद्धि-तत्त्व तथा ऐन्द्रिय संवेदन के संयोग को मान्यता दी गयी है। परिणति में समीकृत तथा अखण्ड होने पर भी, प्रक्रिया की अवस्था में यह एक प्रकार की मिश्र अनुभूति है—अर्थात् उसका निर्माण विविध प्रकार के संवेदनों द्वारा होता है।

उपर्युक्त तत्त्वों का आकलन विविध सम्प्रदायों ने विविध रूपों में किया है। रस-सम्प्रदाय में रागतत्त्व की प्रधानता है—वह साधारणीकृत अथवा निर्मुक्त भाव का आस्वाद है जिसमें मुख्य रूप से कल्पना और गौण रूप से बुद्धितत्त्व तथा ऐन्द्रिय संवेदनों के आस्वाद का योग रहता है। रीति-सिद्धांत के अनुसार उसमें अन्ततः चमत्कृति या कल्पना का आनन्द ही प्रमुख है; ऐन्द्रिय संवेदनों तथा बौद्धिक स्फूर्ति का आस्वाद भी यथेष्ट मात्रा में निहित रहता है किन्तु रागतत्त्व का योग अत्यंत गौण है। अलंकार-सम्प्रदाय सौन्दर्यानुभूति को मुख्य रूप से कल्पना का आनन्द मानता है जिसमें बौद्धिक चमत्कार, ऐन्द्रिय प्रतीति तथा (विस्मय-कुतूहल आदि के रूप में) भाव के आस्वाद का भी योग रहता है। वक्रोक्ति में कल्पना और भावतत्त्व का समन्वय है—

इसमें कल्पना का प्राधान्य होने पर भी रागतत्त्व का योगदान कम नहीं है। ध्वनि-सिद्धांत में रागतत्त्व और भी प्रबल हो जाता है, परन्तु प्रमुखता यहाँ भी कल्पना की है : सिद्धांत रूप में ध्वनि अर्थात् काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति भाव की अनुभूति नहीं, भाव-प्रेरित कल्पना की ही अनुभूति है। ऐन्द्रिय संवेदनों तथा बौद्धिक चमत्कार का योग वक्रोक्ति एवं ध्वनि में रीति तथा अलंकार-सिद्धांतों की अपेक्षा कम है।

□ □

अध्याय : पाँच

सौन्दर्य का मूर्त रूप=कलाकृति, और उसकी रचना-प्रक्रिया

सौन्दर्य का मूर्त रूप ही कलाकृति है। सौन्दर्य की भाववादी अवधारणा के अनुसार कलाकृति कलाकार के स्तर पर भावप्रेरित कल्पना की रूपायिति है और प्रमाता के स्तर पर वह एक अनुभूति है। कलाकार की सर्जनात्मक अनुभूति कृति के रूप में मूर्तित होकर फिर प्रमाता की कलात्मक अनुभूति में विगलित हो जाती है।[1] इस भाववादी दृष्टिकोण से कलाकृति की रचना-प्रक्रिया की कहानी अनुभूति से आरम्भ होकर अनुभूति पर ही समाप्त होती है। वस्तुवादी दृष्टिकोण से कलाकृति वस्तु है—मूर्त—सघन। कलाकार मूर्त उपादानों में सामंजस्य और क्रम की योजना कर उसका निर्माण करता है और प्रमाता गोचर पदार्थ के रूप में उसका अनुभव करता है।[2] ये दोनों मत ही अतिवाद से दूषित हैं : **कलाकृति अनुभवगम्य होने पर भी अनुभूति मात्र नहीं है, और आस्वादन का विषय होने पर भी, मूर्त वस्तु नहीं है। सामान्य विवेक-सम्मत दृष्टिकोण यह है कि वह सर्जनात्मक अनुभूति—सीधे शब्दों में भाव-प्रेरित सर्जनात्मक कल्पना—की मूर्त उपादानों द्वारा अभिव्यक्ति है जो निमित्त रूप से भावक की अनुभूति को उद्बुद्ध करती है।**

कलाकृति के, प्रमुख कलाओं के अनुसार, सामान्यतः पाँच रूप हो सकते हैं : वास्तु-निर्मिति, मूर्ति, चित्र, संगीत-बंध और काव्य। इन सभी में, अपने-अपने मूर्त उपादानों की सीमा के भीतर, भावना की अभिव्यक्ति रहती

१. आई० ए० रिचर्ड्स ने कविता या काव्यकृति को इसी दृष्टि से 'अनुभूति' कहा है।
२. नयी कविता—बिम्बवाद आदि में और नयी समीक्षा में उसे इसी रूप में परिभाषित किया गया है।

है जो इन्हें सामान्य उपयोग की भूमिका से ऊपर उठाकर कला की गरिमा प्रदान करती है। उपर्युक्त कला-कृतियों में वास्तु-रचना का रूप सर्वाधिक मूर्त और सघन होता है, किन्तु प्रतीकात्मक अर्थात् भावना का व्यंजक होने के कारण वह भी मूलतः सौन्दर्य की ही वस्तु होता है—उपयोग की नहीं। मूर्ति और चित्र में भावना की अभिव्यक्ति क्रमशः और अधिक तथा मूर्त उपकरणों का योगदान उसी अनुपात से कम होता जाता है। संगीत में मूर्त उपकरणों की मूर्तता घटते-घटते नाद-तत्त्व तक सीमित रह जाती है और काव्य में वह प्रायः नगण्य बन जाती है, क्योंकि काव्य के उपादान—सार्थक शब्द—तो स्वयं ही किसी भाव या विचार के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार कलाकृति की मूर्तता की भी कोटियाँ होती हैं जिनका प्रसार त्रि-आयामी भौतिक पदार्थ से लेकर प्रतीक रूप शब्दार्थ तक होता है।

वेदों में वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य : सभी कलाओं के उल्लेख मिलते हैं। जैसा कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है वैदिक ऋषि मानव-शिल्प की अपेक्षा देव-शिल्प के प्रति अधिक आकृष्ट था। वह इस सम्पूर्ण सृष्टि को देवता का काव्य मानता था : **पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्य्यति।** अतः उसने मन्दिर, राजभवन, मूर्ति, चित्र, का वर्णन-विवेचन न कर उषा, सूर्य, आदि के शत-शत शब्दचित्र अंकित किए हैं। संगीत और काव्य को वह कला न मानकर दैवी प्रेरणा से उद्भूत विद्या के अंग मानता था और इसीलिए इनका विवेचन उसने अधिक मनोयोगपूर्वक किया है। संगीत के विविध रूप-बंधों—गीत, नृत्य, वादन और उनकी रचना-प्रविधि का विवेचन वेदों में विस्तार से हुआ है :

त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्रमिति

(शांखायन ब्राह्मण २९-५)

संगीत के लिए वैदिक साहित्य का पारिभाषिक शब्द है साम—**प्रगीतं मंत्रवाक्यं सामशब्देनोच्यते।** इसका आधार है स्वर : **का साम्नो गतिरिति। स्वर इति होवाच।** (छान्दोग्य उपनिषद्—खण्ड १)—अर्थात् साम स्वरों की संहति का नाम है। वैदिक साहित्य में तीन स्वरों का निरूपण है—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित और साम के पाँच विभाग माने गए हैं : हिंकार, प्रस्ताव उद्गीथ, प्रतिहार और निधन। इनमें उद्गीथ का महत्त्व सबसे अधिक है। यहाँ ऋचा=काव्यकृति को सुवृक्ति अर्थात् शोभना स्तुति तथा सूक्त=सुन्दर कथन कहा गया है और उसे कुशल शिल्पी द्वारा रथ के समान निर्मित माना गया है : **रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्** (ऋ० ५.२.११)। दिव्य प्रेरणा से

उद्‌भूत होने पर भी कलाकृति की रचना शैल्पिक प्रविधि से होती है।

रामायण-महाभारत में वास्तु, शिल्प, चित्र, गीत-नृत्य तथा काव्य : सभी कलाकृतियों के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। राजभवनों के रूप-आकार अलंकार-प्रसाधन, चित्र, गीत-नृत्य, काव्य आदि की रचना का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। गीतबन्धों की रचना के उपादान-तत्त्व हैं—षड्‌ज आदि स्वर, सम-ताल, द्रुत-मध्य-विलम्बित आदि लय। काव्यकृति छन्द के माध्यम से रूपाकार ग्रहण करती है—और छन्द की रचना भावावेश के दबाव से संघटित समान अक्षर, पद-बंध तथा लय-विधान के द्वारा होती है :

पादबद्धोऽक्षरसमस्तंत्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोकः भवतु नान्यथा॥

अर्थात् भाव के दबाव से वाणी में एक प्रकार की अन्विति तथा लय उत्पन्न हो जाती है और उसी के माध्यम से भाव रूप ग्रहण कर लेता है। भाव से अनुप्रेरित माध्यम-उपादानों की संघटना ही कलाकृति है।

कला की रचना यांत्रिक क्रिया अथवा शिल्प-नैपुण्य मात्र न होकर मानसी सृष्टि है—अर्थात् कलाकार की भावना या मानसिक बिम्ब की सृष्टि है : कला-निर्मिति के इस मूलवर्ती सिद्धांत का रामायण और महाभारत दोनों में स्पष्ट निर्देश है :

मनसैव कृतां लङ्कां निर्मितां विश्वकर्मणा। (रामायण--४.२.२२)
मयेन मनसा सृष्टं पातालतलमाश्रितम्॥ (महाभारत, उद्योग प०, १००.२)

सौन्दर्य के मूर्त रूप की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में सबसे अधिक मार्मिक संकेत कालिदास के काव्य में मिलते हैं :

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगाद्
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥२.९॥

शकुन्तला के सौन्दर्य की रचना करने के लिए कदाचित् विधाता ने पहले एक (सर्वांग सुन्दर) चित्र बनाया और फिर उसमें प्राण का संचार किया या सौन्दर्य के (सर्वश्रेष्ठ) उपादानों का संचय किया और फिर उनके आधार पर मानसी कल्पना के द्वारा उसके रूप का निर्माण किया। इस प्रकार एक और ही स्त्री-रत्न की सृष्टि हो गयी जो सामान्य से सर्वथा भिन्न थी।

—यहाँ कलाकृति की रचना-प्रक्रिया का अत्यन्त सटीक वर्णन किया गया है। कलाकार सौन्दर्य के उपकरणों का अपनी 'भावना' के अनुरूप संघटन कर कृति की रचना करता है : निर्मिति का आधार तो उपकरण ही रहते हैं किन्तु उनकी कला के रूप में परिणति कलाकार की भावना के द्वारा ही संभव होती है। माध्यम सामग्री कला की देह है और कलाकार की भावना उसकी आत्मा है। कला के उपकरण सामान्य और लौकिक होते हैं, पर कलाकृति सामान्य से भिन्न कुछ और ही होती है।

कलाकृति की रचना में यथार्थ का महत्त्व कालिदास को स्वीकार्य है। उनके काव्य में स्वभाव-चित्र—विद्ध चित्र स्थान-स्थान पर मिलते हैं। कुशल कलाकार (दुष्यंत) ने छाया-प्रकाश के प्रयोग से चित्र में ऊँचाई-निचाई का ऐसा यथार्थ चित्रण कर दिया था कि प्रेक्षक (विदूषक) की दृष्टि उस पर मानो फिसलने लगी थी। इसीलिए, सानुमती ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा :

अहो एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तते।

(अ० शा० अंक ६)

—किन्तु कलाकृति के आकर्षण का मूल रहस्य भावाभिव्यक्ति ही है; माध्यम अंगों का सौन्दर्य उसमें योगदान करता है, पर कला की आत्मा भावानुप्रवेश ही है : **मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः।** (अ० शा० अंक ६) इस प्रकार, भावगम्य चित्र का महत्त्व कुछ और ही है : **मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती** (मेघदूत पूर्वार्ध—८२)।—कला के लिए सादृश्य अनिवार्य है, किन्तु स्थूल भौतिक सादृश्य नहीं, भावगम्य सादृश्य। इसके लिए कलाकार को अपनी भावना के अनुसार यथार्थ का संस्कार करना पड़ता है—जिसे यूरोप के प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ कज़िन ने **'प्रकृति का मानसीकरण'**[1] कहा है :

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा। (अ० शा० ६. १४)

अर्थात् जो कुछ ठीक नहीं था, उसका संशोधन कर दिया गया है। कलाकृति की रचना के लिए शैल्पिक निपुणता आवश्यक है, किन्तु शिल्प को कला, अथवा अभिकल्प[2] को चित्र की गरिमा से मण्डित करने वाला तत्त्व है भाव-समाधि जिसके शिथिल होते ही कला में दोष आ जाता है :

सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता। (माल० २. २)

१. आइडियलाइज़ेशन ऑफ़ नेचर
२. डिज़ाइन

मालविका के रूप का साक्षात् दर्शन कर अब ऐसा लगता है कि जिस चित्रकार ने उसका चित्र बनाया है, उसकी समाधि शिथिल हो गयी थी—(इसीलिए वह सही चित्र नहीं बना सका)। कलाकृति की रचना में शिल्प-प्रविधि का महत्त्व तो है ही, पर व्यक्ति-तत्त्व का महत्त्व और भी अधिक है। कृति में प्राण का संचार व्यक्ति की प्रतिभा के संस्पर्श से ही होता है।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।। (माल० अं० १)

कलाकार का शिल्प विशेष पात्र में नियोजित होने पर कुछ और ही उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है, जैसे बादल का पानी समुद्र की सीपी में पड़कर मुक्ता बन जाता है।

जैसा कि हमने तृतीय परिच्छेद में उल्लेख किया है, भारतीय कलाशास्त्र आरम्भ से ही कलाओं के अंतःसम्बन्ध को स्वीकार करता आया है: विष्णु-धर्मोत्तरपुराण के सम्पादक ने चित्र—आलेख्य और प्रतिमा तथा नृत्त-नाट्य के अंतःसम्बन्ध का निर्देश करते हुए अनुकरण को इनका मूल धर्म माना है:

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।।

(विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३.३५.५)

जिस प्रकार लोक की अनुकृति को नाट्य कहा गया है—**लोकानुकृतिर्नाट्यम्** (भरत)—इसी प्रकार चित्र का क्षेत्र भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त माना गया है:

जंगमाः स्थावराश्चैव ये सन्ति भुवनत्रये।
तत्तत्स्वभावतः तेषां करणं चित्रमुच्यते।।

तीनों लोकों में जो जंगम प्राणी और स्थावर पदार्थ हैं, उनकी अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप निर्मिति चित्र कहलाती है—यहाँ लेखक ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग न कर 'करण' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यही है कि कलाकार यथार्थ का प्रत्यंकन मात्र न कर चित्र्य पदार्थ की अपनी दृष्टि से सृष्टि या पुनःसृष्टि करता है। इस प्रकार चित्र रूप और स्वभाव अर्थात् चित्र्य विषय के अंतर्बाह्य स्वरूप की पुनःसृष्टि का नाम है। चित्र की रचना-प्रक्रिया के भारतीय कलाशास्त्र में छह अंग माने गए हैं:

रूपभेदाः प्रमाणानि लावण्यं भावयोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम्।।

(कामसूत्र की टीका—यशोधर)

रूपभेद अथवा आकार, प्रमाण अर्थात् आनुपातिक माप—अंगकद, लावण्य या आंतरिक आकर्षण, भावयोजना अथवा रसाभिव्यक्ति, सादृश्य या मूल विषय के साथ साम्य और वर्णिकाभंग अर्थात् रंगों की योजना—चित्र के ये छह अंग हैं। इनके अतिरिक्त 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के चित्रसूत्र में चित्र-रचना के चार मूल उपादानों का प्रकारांतर से उल्लेख किया गया है: रेखा, वर्तना, अलंकरण और वर्ण-वैभव—

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः॥

(वि० ध० पु० ३.४१.११)

इनमें रेखा चित्र का मूल उपादान है—उसकी स्थिति प्रायः वही है जो काव्य में शब्दार्थ की। वर्तना—अर्थात् दीप्ति-छाया के प्रयोग द्वारा ऊँचाई-निचाई आदि विविध आयामों की अभिव्यक्ति—व्यंजनाशक्ति के समकक्ष है। अलंकरण और वर्ण-वैभव की स्थिति बहुत कुछ काव्य में अलंकार तथा अतिशय (ऊहा) आदि के समान है। इन उपादानों के माध्यम से चित्रकार अपने भावों—अभिप्रायों को अभिव्यक्त करता है। चित्रकला में भी अपना विभावन-व्यापार होता है। चित्रसूत्र (विष्णुधर्मोत्तरपुराण) तथा अन्य ग्रंथों में इसका अत्यन्त रोचक विवरण मिलता है। उदाहरण के लिए—अंधकार का जल्दी-जल्दी घर की ओर लौटते हुए मनुष्यों के माध्यम से, चाँदनी का कुमुदों के विकास और चन्द्रमा के द्वारा, रात्रि के प्रथमार्ध का अभिसारिकाओं के माध्यम से चित्रण करना चाहिए। वसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुओं के विभावन-व्यापार का विवरण इस प्रकार है:

वसन्त: फूलों से लदे वृक्ष, कोकिल, भ्रमर, प्रसन्न नर-नारी।

ग्रीष्म: थके-परेशान नर-नारी, छाया में एकत्र मृग-समूह, पंक-स्नात महिषदल, सूखे जलाशय आदि।

वर्षा: जल से झुके हुए मेघ, इन्द्रधनुष, बिजली की कौंध, आदि।

इसी प्रकार नाना भावों और रसों की अभिव्यक्ति के लिए रस-दृष्टियों के रूप में अनुभावों का विधान है। शृंगार की अभिव्यक्ति के लिए ललित एवं संकुचित, हास्य के लिए विकसित, भयानक के लिए विकृत और विह्वल दृष्टि का अंकन होना चाहिए।

मूर्तन-प्रक्रिया की यह सामग्री बहुत कुछ नाट्यकला से उद्धृत की गयी है:

दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः ।।
कराश्च ये मया नृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम !
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम् ।।

(वि० ध० पु० ३.३५.६.७)

अर्थात् रसदृष्टियाँ, भाव, समस्त अंग-उपांग, तथा हस्तमुद्रा आदि जिनका वर्णन मैं पहले नृत्त या नाट्य के प्रसंग में कर चुका हूँ, वे चित्रकला के प्रसंग में भी उसी प्रकार ज्ञातव्य हैं।—हस्तमुद्राएँ अर्थ का द्योतन करती हैं और दृष्टियाँ उसका प्रतिपादन अथवा व्यंजना : इस प्रकार अभिनय के माध्यम से सभी कुछ सजीव-सा प्रतीत होता है। आंगिक अभिनय, चित्र और मूर्तिकला में ये सभी तत्त्व समान रूप से रहते हैं।

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इव दृश्येत् सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते ।

(समराङ्गणसूत्रधार पञ्चम पटल ५५-३३-३४)

संगीत का आधार है स्वर-सौन्दर्य जिसका मूर्त रूप है गीत-बन्ध या राग :—**गीतं नादात्मकम्**······(सं० र० १.२.१.)। इसी की व्याख्या करते हुए संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने उपर्युक्त धारणा को किसी पूर्ववर्ती आचार्य के उद्धरण द्वारा और भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया है : **रञ्जकः स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते ।**[1] —अर्थात् प्रीतिकर स्वर-संदर्भ का नाम गीत है। इसके तीन अंग माने गए हैं : स्वर, ताल और पद : **गान्धर्व-मिति विज्ञेयं स्वरतालपदाश्रयम् ।** ना० शा० २८.८ ।। दत्तिल के अनुसार गीत उस पदाश्रित (अर्थात् सार्थक) स्वर-संघात का नाम है जो ताल में निबद्ध होता है और जिसका प्रयोग अवधानपूर्वक किया जाता है :

पदस्थस्वरसंघातस्तालेन सुमितस्तथा ।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते ।। (दत्तिलम् श्लोक ३)

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों अंगों में स्वर का स्थान प्रमुख है, शेष दो इसी के आश्रित हैं। स्वर की परिभाषा दो प्रकार से की गई है। पतञ्जलि के अनुसार 'स्वर' वे हैं जो स्वयं शोभित होते हैं : **स्वयं राजन्ते इति स्वराः ।** शार्ङ्गदेव ने इसी का पल्लवन करते हुए लिखा है : **स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं**

१. संगीतरत्नाकर (१९४३)—सं० पण्डित सुब्रह्मण्यशास्त्री, पृ० १४।

स स्वर उच्यते। (सं० रं० १.३.२५)—अर्थात् जो अपने सहज स्वरूप से ही श्रोता के चित्त का अनुरंजन करता है, उसे स्वर कहते हैं। स्वर के अन्तर्गत श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, स्थान, साधारण, जाति, वर्ण, अलंकार आदि का समावेश है। ताल के अंग हैं—आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेशक आदि। पद में स्वर, व्यंजन, वर्ण, सन्धि, छन्द आदि का समावेश है।[1] स्वर-सौंदर्य के प्रतीक गीत के मूर्त रूप का निर्माण इन्हीं तत्त्वों से होता है और यह स्वर-सौन्दर्य राग-रागिनियों के माध्यम से अनेक रूप धारण करता है।

गीतबन्ध या राग की भी आत्मा रस ही है: शब्दार्थ-रूप काव्यकृति के समान उसकी भी सार्थकता रसाभिव्यक्ति में ही है। इसीलिए सभी आचार्यों ने विशेष रसों के साथ विभिन्न स्वरों के व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध की चर्चा की है। भरत ने स्पष्ट लिखा है कि 'जिस जाति का अंश स्वर जिस रस का पोषक हो, उस रस के परिपोष के लिए (नाट्य में) उसी जाति का गान किया जाना चाहिए। (ना० शा० २९.१२)

१. मध्यमपंचमभूयिष्ठं हास्यश्रृंगारयोर्भवेत्।
षड्जर्षभप्रायकृतं वीररौद्राद्भुतेषु च॥ (ना० शा० २.१.३)
गान्धार सप्तमप्रायं करुणो गानमिष्यते।
तथा धैवतभूयिष्ठं बीभत्से सभयानके॥ (ना० शा० २९.१४)

अर्थात् मध्यम तथा पंचम स्वर का प्राबल्य हास्य तथा श्रृंगार का उत्पादक होता है, षड्ज तथा ऋषभ वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस के पोषक होते हैं, गान्धार तथा निषाद करुण रस का परिपोष करते हैं तथा धैवत का बहुल प्रयोग बीभत्स एवं भयानक रस का प्रेरक सिद्ध होता है।

× × ×

२. सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे धो बीभत्से भयानके॥
(सं० र० १.३.५९)
कार्यौ गनी तु करुणे हास्यश्रृंगारयोर्मपौ।
(सं० र० १.३.६०)

इसको स्पष्ट करते हुए सिंहभूपाल ने अपनी 'सुधाकर' टीका में लिखा है: षड्जर्षभौ वीराद्भुतरौद्रेषु; धैवतो बीभत्सभयानकयोः; गांधारनिषादौ करुणे, मध्यमपंचमो हास्यश्रृंगारयोरिति।[2] —अर्थात् षड्ज और ऋषभ का

१. देखिए 'भारतीय संगीत का इतिहास': डॉ० श० श्री० परांजपे (प्र० सं०) पृ० २८०।
२. वही, पृ० ३४१।

प्रयोग वीर, अद्‌भुत और रौद्र में, धवत का बीभत्स और भयानक में, गांधार तथा निषाद का करुण में और मध्यम एवं पंचम का हास्य तथा शृंगार में प्रयोग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ध्वनि तथा अलंकार के साथ भी रागों का संबंध प्राय: वैसा ही है जैसा कि काव्य का। काव्य में अभिधा का प्रयोग प्राय: होता है, परन्तु संगीत में तो व्यंजना का ही आश्रय लेना पड़ता है क्योंकि स्वरों के द्वारा कथन तो संभव ही नहीं है वे केवल व्यंजक ही हो सकते हैं : **अथ स्वराणां रस व्यंजकनियमाह** (सं० र० पृ० ६८) अत: ध्वनि के साथ संगीत का संबंध काव्य की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ एवं अंतरंग है। काव्य की भाँति संगीत में भी अलंकार शोभावर्धक धर्म हैं जो स्वर-सौन्दर्य की सृष्टि नहीं वरन श्रीवृद्धि करते हैं।

शशिना रहितेव निशा विजलमेव नदी लता विपुष्पेव।
अविभूषितैव च स्त्री गीतिरलंकारहीना स्यात्।। (ना० शा० २९.७५)

—अर्थात् अलंकार के बिना गीति वैसी ही श्रीहीन होती है जैसी कि चन्द्रमा के बिना रात्रि, जल के बिना नदी, पुष्पहीन लता और आभूषणों से विहीन स्त्री। परन्तु अलंकार-प्रयोग में औचित्य तथा अनुपात का निर्वाह आवश्यक है : अलंकारों के अनुचित प्रयोग अथवा अति-प्रयोग से सौन्दर्य की क्षति हो जाती है :

स्थाने चालंकारं कुर्वन्ति ह्यु रसि काञ्चिकां बध्येत्।
अति बहवोऽलंकारा वर्णविहीनास्तु योक्तव्या:।। (ना०शा० २९.७४)

इसी प्रकार संगीत में गुण-दोष का विधान भी प्राय: उसी रूप में हुआ है जिस रूप में कि काव्य तथा चित्र-कला में। नारदीय शिक्षा में दश गुणों और चौदह दोषों का विवेचन किया गया है। दश गुण हैं : रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट, श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार तथा मधुर। इनके आधारभूत तत्त्व हैं—स्पष्टता, सामञ्जस्य, मार्दव, लालित्य आदि। दोषों के नाम हैं—शंकित, भीत, उद्‌घृष्ट, अव्यक्त, अनुनासिक, काकस्वर, शिरोगत, स्थानवर्जित, विस्वर, विश्लिष्ट, विषमाहत, व्याकुल तथा तालहीन।—काव्य की भाँति संगीत में भी गुण उत्कर्ष के कारण हैं और दोष अपकर्ष के।

सांगीतिक कलाकृति है 'राग' और उसकी रचना-प्रक्रिया का विधान प्राय: वैसा ही है जैसा कि काव्यकृति तथा अन्य कलाकृतियों का। संगीतकार के लिए भी कला की सृष्टि के लिए सबसे पहली आवश्यकता है अवधान अर्थात् चित्त की समाहिति जिसके द्वारा वह स्वर के रहस्यों का साक्षात्कार

कर, उनमें अनुक्रम, तारतम्य तथा अन्विति की स्थापना करता हुआ राग की सृष्टि करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में कलाकृति के स्वरूप और रचना-प्रक्रिया का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। यहाँ कलाकृति का अर्थ है काव्यकृति या केवल काव्य। स्वरूप के दो अंग हैं बाह्य और अंतस् जो अविभाज्य रूप से संयुक्त होकर स्वरूप का निर्माण करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में बहिरंग को 'काव्यशरीर' और अंतरंग को 'काव्यात्मा' कहा गया है। शरीर और आत्मा में तत्त्व-दृष्टि से आत्मा का महत्त्व अधिक है, किन्तु व्यवहार में गोचर सत्ता तो शरीर की है—और वस्तुवादी विचारधारा के अनुसार चेतना या तथाकथित आत्मा भी शरीर का ही धर्म है। काव्य अथवा काव्यकृति की परिभाषा में भारतीय आचार्यों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से इसी तर्क-पद्धति का अवलम्बन किया है और इसीलिए आरम्भ से अंत तक काव्यलक्षण का मूल-सूत्र रहा है—**'शब्दार्थौ काव्यम्'** अर्थात् काव्य शब्दार्थ रूप होता है। काव्य-शरीर अथवा काव्य-सौन्दर्य के मूर्त रूप के विषय में भारतीय काव्यशास्त्र में कोई वैमत्य नहीं है: **शब्दार्थौ ते शरीरम्।** (राजशेखर)—अर्थात् काव्य-सौन्दर्य का मूर्त रूप है शब्दार्थ—काव्यकृति शब्दार्थ रूप होती है। किन्तु केवल शब्दार्थ या सामान्य शब्दार्थ काव्य नहीं है: काव्य तो विशिष्ट शब्दार्थ का ही नाम है। इस वैशिष्ट्य की विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्या की है। भामह ने शब्दार्थ के साथ 'सहित' विशेषण जोड़ दिया है: **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** अर्थात् सहभाव से प्रयुक्त शब्दार्थ काव्य है। वामन ने **'गुणालंकारसंस्कृत'** शब्दार्थ को काव्य कहा है और उसकी रचना अथवा संघटना को काव्य की आत्मा माना है। कुंतक ने एक ओर सहभाव या साहित्य के मर्म का उद्घाटन करते हुए उसका अर्थ किया है पूर्ण साम्य एवं तादात्म्य और दूसरी ओर वक्रतायुक्त, अलंकृत अथवा कलात्मक बन्ध में व्यवस्थिति को रेखांकित किया है:

१. **साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानिरिक्तत्वम्।** (प्र० उ० ६वीं कारिका की वृत्ति)

२. **शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।**
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥१.७॥

—इस प्रकार देहवादी या वस्तुवादी आचार्यों के अनुसार अलंकृत अर्थात् चमत्कारपूर्ण शब्दार्थ-बंध ही काव्य अथवा काव्यकृति है। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर शब्द-अर्थ के सामंजस्य द्वारा चमत्कार उत्पन्न करता हुआ, जो रचना-विधान करता है उसी को काव्य अथवा काव्यकृति कहते हैं। और सीधे शब्दों में,

शब्द-अर्थ के चमत्कारपूर्ण प्रयोग द्वारा सम्पन्न रचना-विधान का नाम ही काव्य है—वही काव्यकृति है।

आत्मवादियों ने भी शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर माना है। उनके अनुसार भी काव्य-सौन्दर्य शब्दार्थ में ही मूर्त रूप ग्रहण करता है : **शब्दार्थ-शरीरं तावत् काव्यम् ।**[1] अपने मंतव्य को और स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन ने उसे **'विविध-वाच्य-वाचक-रचना-प्रपंचचारु**[2] और **ललितोचितसन्निवेशचारु**[3] कहा है अर्थात् शब्द-अर्थ की चारु रचना या ललित और उचित सन्निवेश काव्य का बाह्य रूप है। भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि ने गुणालंकारसम्पदा से युक्त शब्दार्थ[4] को काव्य का शरीर माना है। इस शब्दावली का सीधा अर्थ है—**वर्ण-समुदाय तथा शब्द-अर्थ की चमत्कारपूर्ण संयोजनाओं से युक्त रचना-विधान : यही वस्तुतः कलाकृति है।**

वस्तुवादी तथा आत्मवादी दोनों ही कृति=रचना-विधान को कविकर्म अर्थात् कविप्रतिभा की निर्मिति मानते हैं। अन्तर यह है कि वस्तुवादी का पूरा बल जहाँ कल्पना-शक्ति और शब्दार्थ-विवेक पर रहता है वहाँ आत्मवादी इन दोनों तत्त्वों के मूल में समृद्ध अनुभवों के संस्कार (रसावेशवैशद्य) और तज्जन्य संवेदनशक्ति या भावबोध की अनिवार्य प्रेरणा मानता है। उसकी दृष्टि से रचना-विधान में शब्द-अर्थ के चमत्कार के अंतर्गत भाव का संस्पर्श भी रहता है—अन्यथा वह काव्य-सौन्दर्य का माध्यम नहीं बन पाता।

रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत कृति के निर्माण का आधार विभावन-व्यापार माना गया है। कवि के चित्त में जब भाव का उद्रेक होता है तो उसे मूर्त रूप देने के लिए वह शब्द-अर्थ का माध्यम तो ग्रहण करता ही है, किंतु इसके अतिरिक्त उसे विभावन-व्यापार का भी आश्रय लेना पड़ता है—अर्थात् भाव के आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव अर्थात् भाव-जन्य मानसिक-शारीरिक चेष्टाओं तथा संचारी अर्थात् सम्बद्ध मनःस्थितियों की कल्पना भी करनी पड़ती है। काव्यशास्त्र में विभाव का लक्षण इस प्रकार किया गया है :

रत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।

(सा० द० विमला टीका (१९५६) पृ० ६४)

लोक में अर्थात् जीवन में जिन व्यक्तियों अथवा प्रसंगों के द्वारा भावों की

१. ध्वन्यालोक : (चौखम्बा सं० ग्रं० मा० १९९७ विं०) पृ० १६।

२. वही, पृ० ८७,   ३. वही, पृ० ४५।

४. काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो···। हिं० अ० भा० पृ० ७६५।

उद्बुद्धि होती है, वे ही काव्य और नाटक में निबद्ध होकर विभाव कहलाते हैं।—जो सहृदय के भावों को विभावित करते हैं अर्थात् रसास्वादन के योग्य बनाते हैं, वे ही विभाव हैं। अर्थात् विभाव से अभिप्राय काव्य के उन प्रसंगों का है जिनके माध्यम से कवि अपने भावों को मूर्त रूप प्रदान करता हुआ प्रमाता के चित्त में समान भावों की उद्बुद्धि कर उन्हें रस में परिणत कर देता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है। वास्तव में काव्यगत भाव लौकिक भाव से भिन्न होता है: लौकिक भाव को काव्यगत भाव में परिणत करने वाले प्रसंग विभाव हैं और इनका विधान ही कवि-कर्म है।

कवि की दृष्टि से, यह एक प्रकार का बिम्बन-व्यापार है जिसमें कवि अपनी अनुभूति को मूर्त रूप देने के लिए अनेक छोटे-बड़े बिम्बों की रचना करता हुआ एक संश्लिष्ट बिम्ब की सृष्टि करता है। इलियट ने इसे ही मूर्त-विधान या सम्बद्ध रूप-विधान[1] कहा है। उनका मत है कि अपने अभीष्ट भाव को शब्द-अर्थ के माध्यम से प्रतिफलित करने के लिए उपयुक्त मूर्त-विधान करना (इलियट की अपनी शब्दावली में वस्तुगत सह-सम्बन्धों की उद्भावना करना) ही कवि-कर्म है। प्रतीकवादी और बिम्बवादी भी अपने-अपने ढंग से यही बात कहते हैं: उनका तर्क है कि कविता शब्दों के द्वारा भाव की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं कर सकती—वह केवल प्रतीकों अथवा बिम्बों के द्वारा ही उनकी उद्बुद्धि कर सकती है। इस व्यापार की—अथवा स्पष्ट शब्दों में, इस प्रकार की प्रसंग-योजना की व्याप्ति मुक्तक से लेकर महाकाव्य तक है। वाल्मीकि का शोक जहाँ एक ओर

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

—इस एक श्लोक में मूर्तित हुआ था वहाँ दूसरी सम्पूर्ण रामायण महाकाव्य में भी। उपर्युक्त छन्द के क्रौंच, क्रौंची, निषाद, आर्तक्रंदन आदि विभावन व्यापार के द्वारा राम, सीता, रावण, तथा राम की जीवन-करुणा के रूप में क्रमशः बिम्बित होते गये और इस प्रकार कवि का शोक, जो आरम्भ में श्लोक में परिणत हुआ था, रामायण के विराट् कथा-प्रसंग में मूर्त हो गया।

कृति की रचना कवि-प्रतिभा के द्वारा सम्पन्न होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा को प्रज्ञा का ही एक भेद माना गया है जो नव-नव रूपों की सृष्टि करती है: **नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा प्रज्ञा मता** (भट्टतोत)। अभिनव ने

१. ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए प्रतिभा को **अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा**— अर्थात् अपूर्व रूपों की सृष्टि करने वाली प्रज्ञा कहा है। कवि अथवा सौन्दर्यस्रष्टा कलाकार की प्रतिभा इसी का एक प्रकार-विशेष है जिसके द्वारा सौन्दर्यचेता कवि या कलाकार रसावेश की स्थिति में कलाकृति का निर्माण करता है : **तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्** (अभिनव—ध्वन्यालोकलोचन)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य रूपों की सृष्टि करने वाली प्रतिभा सामान्य प्रतिभा है और सौन्दर्य-रूपों की सृष्टि करने वाली प्रतिभा कवि-प्रतिभा या कलाकार की प्रतिभा है। **यत्किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्**। (कुन्तक)। काव्य अथवा कला-सौन्दर्य की सृष्टि प्रतिभा के द्वारा ही होती है। किन्तु अपूर्व-वस्तु-निर्माण या नव-नव सौन्दर्य-रूपों की सृष्टि का अर्थ अभूत का आविष्कार न होकर विद्यमान पदार्थों में निहित सौन्दर्य का उद्घाटन ही है। कलाकार की प्रतिभा पदार्थ के स्वरूप में ही विद्यमान गुणों को ऐसे कौशल के साथ अतिरंजित कर प्रस्तुत कर देती है कि पदार्थ का साधारण स्थूल रूप तो छिप जाता है और एक नवीन रमणीय रूप उपस्थित हो जाता है। विधाता की सृष्टि में असंख्य नामरूपमय पदार्थ वर्तमान हैं। जनसाधारण नित्यप्रति उनका अवलोकन तथा व्यवहारादि करते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि पदार्थों के स्थूल रूपों की ओर ही प्रायः जाती है। कवि-प्रतिभा अनायास ही उनके विशिष्ट गुणों का साक्षात्कार कर लेती है, और इन्हीं विशिष्ट गुणों को उभारकर ऐसी निपुणता के साथ प्रस्तुत करती है कि पदार्थों का सामान्य, जनसाधारण-लक्षित रूप आच्छन्न हो जाता है, और वे नवीन सहृदय-हृदयहारी रूप धारण कर लेते हैं। यही कवि-प्रतिभा की सृजन-प्रक्रिया है।

कवि-प्रतिभा या कलाकार की प्रतिभा सौन्दर्य-रूपों की सृष्टि किस प्रकार करती है, इसका मार्मिक विवेचन रुद्रट, महिमभट्ट और राजशेखर आदि आचार्यों ने किया है। रुद्रट के अनुसार—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥ (का० अ० १।१५)

इसका भावार्थ यह है कि समाहित चित्त में जिसका उन्मेष होने पर प्रसन्न पदावली में अभिधेय अर्थ का अनेक प्रकार से प्रस्फुरण होता है वही शक्ति अथवा प्रतिभा है। अर्थात् जिस समय कवि का मन समाहित हो जाता है, उस समय प्रतिभा के उन्मेष से ही अभिधेय अर्थ अनेक प्रकार से रमणीय शब्दावली में अभिव्यक्त होता है। यही मन्तव्य महिमभट्ट का भी है :

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतस ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥

रसानुकूल शब्द-अर्थ के चिन्तन में तल्लीन समाहित-चित्त कवि की प्रज्ञा ही, जबकि वह शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करती हुई सहसा उद्दीप्त हो उठती है, प्रतिभा संज्ञा को धारण करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय शब्द-अर्थ के भावन में तल्लीन कवि का मन पूर्णतः समाहित हो जाता है, उस समय एक क्षण ऐसा आता है कि कवि की प्रज्ञा शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का सहज साक्षात्कार कर लेती है। यही काव्य-सृजन का क्षण होता है। शब्द-अर्थ के इस वास्तविक रूप को राजशेखर ने 'पदार्थसार्थ' कहा है और मूर्त रूप में विवरण के साथ प्रस्तुत किया है : **या शब्दग्रामम्, अर्थ-सार्थम्, अलंकारतन्त्रम्, उक्तिमार्गम्, अन्यदपि तथाविधमधिहृदयम् प्रतिभासयति सा प्रतिभा।** अर्थात् पदार्थ-समूह से अभिप्राय शब्द, अर्थ, अलंकार, उक्ति तथा इस प्रकार के अन्य काव्य-प्रसाधनों से है। वस्तुपरक दृष्टि से ये सभी शब्द-अर्थ के चमत्कार हैं, और प्रतिभा इन सबको कवि के हृदय में प्रतिभासित कर देती है। प्रतिभा में वह शक्ति है जिससे कि प्रयत्न के बिना ही शब्द-अर्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य स्फुरित-सा दिखाई देता है :

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तःस्फुरतीव विभाव्यते॥

(हिन्दी व० जी० १।३४, पृ० १२४)

अर्थात् कवि-प्रतिभा का मुख्य कार्य है शब्द और अर्थ में अपूर्व सौन्दर्य का प्रस्फुरण क्योंकि कुन्तक का स्पष्ट मत है कि अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही शब्द और अर्थ में नवीन चमत्कार प्रस्फुटित होता है : **अम्लानप्रतिभोद्भिन्न नव-शब्दार्थ**···(हिन्दी व० जी० १।२५)।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार—सौन्दर्य-निर्मिति अथवा कलाकृति की रचना-प्रक्रिया के दो अंग हैं : १. वर्ण्यवस्तु के मर्म का उद्घाटन और २. शब्द-अर्थ के रहस्य का साक्षात्कार। वर्ण्यवस्तु के मर्म के उद्घाटन से अभिप्राय है वस्तु में निहित ऐसे तत्त्वों का उद्घाटन जो सहृदय की संवेद-शक्ति अथवा भाव-बोध का परितोष करते हैं—दूसरे शब्दों में जिनका प्रमाता के साथ रागात्मक सम्बन्ध है। शब्द-अर्थ के रहस्य के साक्षात्कार का अर्थ है शब्द और अर्थ के कल्पना-रमणीय सम्बन्धों का उद्घाटन। पहले अंग को शास्त्र में दर्शन और दूसरे को वर्णन कहा गया है : **दर्शनात् वर्णनाच्चाथ।** (भट्टतोत)। कलाकार अपनी प्रतिभा के द्वारा ये दोनों कार्य सम्पन्न कर कृति का निर्माण करता है। किन्तु रचना-प्रक्रिया के ये दोनों अंग केवल व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से ही पृथक् माने या कहे जा सकते हैं—तत्त्वतः इनकी स्थिति पृथक् नहीं है। वास्तव में काव्यवस्तु के रमणीय तत्त्वों का उद्घाटन शब्द-अर्थ के रम-

णीय संबंधों के उद्घाटन द्वारा ही सम्भव होता है और शब्द-अर्थ में रमणीय संदर्भों का समावेश वस्तु के रमणीय तत्त्वों के सम्पर्क से ही होता है। तत्त्व-दृष्टि से कथ्य की रमणीयता और कथन की रमणीयता का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, किन्तु व्याख्यान-विवेचन के लिए इन्हें पृथक् मान लिया जाता है। कुन्तक का वचन प्रमाण है :

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया, तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥ १.६.

अलंकृति अर्थात् कथन के सौन्दर्य और अलंकार्य अर्थात् कथ्य के सौन्दर्य का पृथक् विवेचन केवल इसलिए किया जाता है कि इससे काव्य के आस्वादन में सहायता मिलती है।—तत्त्वदृष्टि से तो काव्य सालंकार ही होता है, अर्थात् उसमें अलंकार्य और अलंकार का भेद नहीं किया जा सकता।

□ □

अध्याय : छह

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य-मीमांसा तथा मूल्यांकन के निकष

सौन्दर्य-मूल्य अथवा सौन्दर्यात्मक मूल्य का तत्त्व-विश्लेषण करते हुए सेंटायना ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दि सेन्स ऑफ़ ब्यूटी' में उसके तीन स्तरों का उल्लेख किया है : १. **भौतिक मूल्य**—अर्थात् सौन्दर्य के माध्यम उपकरण का पदार्थ-गत मूल्य, २. **रूपात्मक मूल्य**—सौन्दर्य के मूर्त रूप (कृति) की रचना-प्रविधि या शिल्प का मूल्य, और ३. **साहचर्यपरक मूल्य** अर्थात् कथ्य या विषय-वस्तु का मूल्य। इन तीनों की अवधारणाओं के संयोग से सौन्दर्य-मूल्य की अवधारणा का निर्माण होता है। यह स्तर-भेद केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही ग्राह्य एवं उपयोगी है, तत्त्व-दृष्टि से इसे यथावत् स्वीकार नहीं किया जा सकता—क्योंकि सौन्दर्य एक अखण्ड तत्त्व अथवा अखण्ड चेतना है। माध्यम-उपकरण, रूपाकृति और कथ्य तीनों के अभिन्न सहभाव अथवा पूर्ण तादात्म्य का नाम ही सौन्दर्य है : सौन्दर्य-चेतना में इन तत्त्वों की पृथक् अनुभूति न होकर समेकित अनुभूति ही होती है। अतः उपर्युक्त विश्लेषण केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं है। फिर भी, इसका उपयोग मूल्यांकन या मूल्य-प्रतीति की प्रक्रिया को समझने में किया जा सकता है और इसके आधार पर सौन्दर्य-मूल्यों के आकलन के व्यावहारिक प्रतिमानों का निर्धारण करने में सहायता मिल सकती है।

भारतीय कलाविद् की व्यावहारिक दृष्टि ने इन तीनों गुणों का आकलन किया है—और इसके प्रमाणस्वरूप 'समरांगणसूत्रधार' के चतुर्थ पटल—अध्याय ४९ में वर्णित यंत्रगुणों की सूची प्रस्तुत की जा सकती है।

१. यथावद्बीज-संयोग—बीजों का समानुपातिक मिश्रण।
२. सौश्लिष्ट्य—अवयवों का उचित संश्लेषण।
३. श्लक्ष्णता—कोमलता—मृदुता।
४. अलक्ष्यता—गोप्यता: आत्म-गोपन का गुण
(आत्म-गोपन कला का अत्यन्त सूक्ष्म-तरल गुण माना गया है।)
५. निर्वहण—उपादेयता : प्रयोजनीयता।
६. लघुत्व—(हलकापन)
७. शब्दहीनता—यथावश्यक, शब्द का अभाव।
८. शब्दाधिक्य—यथावश्यक, शब्द का आधिक्य।
९. अशैथिल्य
१०. अगाढ़ता—प्रगाढ़ता का अभाव।
११. सम्यक् संचरण—सर्वत्र सुख-सरल भाव से संचरण करने की क्षमता।
१२. यथाभीष्टकारित्व—अभीष्ट अर्थ या अभिप्राय की पूर्ति करने की क्षमता।
१३. लयतालानुगामित्व—लयताल का अनुसरण करने की योग्यता।
१४. इष्टकालार्थदर्शित्व—समयानुकूल कार्य सम्पन्न करने की क्षमता।
१५. पुनःसम्यक्त्व-संवृति—आवश्यकतानुसार यथास्थिति प्राप्त करने की योग्यता, पूर्ववत् स्थिर हो जाने की शक्ति।
१६. अनुल्बणत्व—सममिति : अन्यूनातिरिक्तत्व।
१७. ताद्रूप्य—पूर्ण सादृश्य।
१८. दार्ढ्य—दृढ़ता
१९. मसृणता—स्निग्धता।
२०. चिरकालसहत्व—स्थायित्व : चिरकाल तक बने रहने की क्षमता।

इनमें से यथावद्बीजसंयोग, लघुत्व, दार्ढ्य, और चिरकालसहत्व पदार्थगत आंतरिक गुण हैं ; सौश्लिष्ट्य, श्लक्षणता, अलक्ष्यता, अशैथिल्य, अगाढ़ता, अनुल्बणत्व, मसृणता प्रातीतिक गुण हैं, और निर्वहण, शब्दहीनता, शब्दाधिक्य, सम्यक्संचरण, यथाभीष्टकारित्व, लयतालानुगामित्व, इष्टकालार्थदर्शित्व, पुनः-सम्यक्त्व-संवृति व्यावहारिक या प्रायोगिक (फ़ंक्शनल) गुण हैं।

भौतिक मूल्य और उसके आकलन के प्रतिमान

प्रत्येक सौन्दर्य-रूप का, चाहे वह प्राकृतिक हो या कलात्मक, एक मूर्त आधार रहता है। यह मूर्त आधार या माध्यम-उपकरण भौतिक पदार्थ

होता है जिसका निर्माण विविध रासायनिक अथवा अन्य तत्त्वों से होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के क्षेत्र से एक उदाहरण लें—फूल : गुलाब, या गेंदा। इन फूलों के उपादान कारण हैं अनेक रासायनिक तत्त्व और निमित्त कारण हैं सूर्य का प्रकाश, वायु आदि। क्या इनके सापेक्षिक सौन्दर्य-मूल्य का आकलन करने में इनके उपादान, रासायनिक तत्त्वों का अंशदान रहता है? 'गुलाब, गेंदा से अधिक सुन्दर है'—इस निर्णय का आधार क्या है? गुलाब का रूप-आकार, रंग, सुगंध और शायद इन तीनों गुणों का सापेक्षिक स्थायित्व तथा आनुकूल्य —यानी यह कि गुलाब का रंग हमारी आँखों के लिए और उसकी गंध हमारी घ्राणेन्द्रिय के लिए अधिक अनुकूल है। इस प्रकार का मूल्यांकन प्रतीति अथवा ऐन्द्रिय संवेदना के स्तर पर होता है। किन्तु इसके नीचे एक और स्तर है : भौतिक स्तर जहाँ विभिन्न रासायनिक तत्त्वों के गुणों और उनके आनुपातिक मिश्रण के द्वारा गुलाब के रूप, रंग, गंध आदि का निर्माण होता है। इन रासायनिक तत्त्वों और इनके उचित मिश्रण के बिना गुलाब के सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकती। अतः गुलाब-गेंदा के सौन्दर्य-मूल्य-निर्धारण में उनके उपादानभूत भौतिक तत्त्वों का अंशदान भी रहता है। प्रतीति के ऊपर गुलाब के सौन्दर्य के मूल्यांकन का एक और भी स्तर है जहाँ मानव-जीवन के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है; वहाँ वह रमणी या बालक के स्निग्ध-कोमल रूप के भाव-संस्कारों के साथ जुड़ जाता है। यह सौन्दर्य का साहचर्यपरक रूप है जो जीवन के संदर्भों के साथ जुड़कर उसे अधिक स्थायी और गंभीर मूल्यवत्ता प्रदान कर देता है।

कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र में इस प्रकार का स्तर-विभाजन और भी स्पष्ट रीति से किया जा सकता है। विभिन्न कला-रूपों के अपने-अपने मूर्त आधार या भौतिक माध्यम-उपकरण होते हैं—जिनमें प्रमुख हैं प्रस्तर, धातु, द्रव्य, नाद तथा भाषा। जिस प्रकार फूल की सौन्दर्य-सृष्टि में उसके उपादान रासायनिक तत्त्वों का प्रच्छन्न अंशदान रहता है, इसी प्रकार उपर्युक्त भौतिक उपकरणों की मूल्यवत्ता का भी अपने-अपने माध्यम से अभिव्यक्त कला-रूपों की मूल्यवत्ता में परोक्ष योगदान रहता है, जैसे ताजमहल की सौन्दर्य-सृष्टि में संगमरमर का, अजंता के चित्रों के कलात्मक मूल्य में वहाँ की पहाड़ियों के धातुज रंगों का और नटराज की प्रसिद्ध मूर्ति की विराट् कल्पना में उपादानभूत वज्रधातु का। ध्रुपद की सृष्टि के लिए गायक के उदात्त स्वर का योगदान अनिवार्य है, मेघदूत के अभिजात सौन्दर्य की सृष्टि प्राकृत भाषा में नहीं हो सकती थी और न 'राम की शक्ति पूजा' की रचना भारतेन्दु-युग की खड़ी बोली में। अतः संगीत तथा काव्य की मूल्यवत्ता में भी कण्ठ्य एवं वाद्य ध्वनि और उधर भाषा के भौतिक गुणों का परोक्ष योगदान

रहता है, इस तथ्य को नकारना कठिन है। सौन्दर्य का दूसरा स्तर रूपात्मक है और कला के विशेषज्ञों के अनुसार यही सौन्दर्य का वास्तविक स्तर है, क्योंकि उनके मत से सौन्दर्य की रूप के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है। कलाकार अपनी कारयित्री प्रतिभा के द्वारा, साम्य-वैषम्य, छाया-प्रकाश, अनुक्रम-समन्विति आदि के आधार पर, माध्यम-उपकरणों की नानाविध संयोजनाएँ तैयार करता हुआ रूप की संरचना करता है : यही उसका कलाकर्तृत्व है और इसी में उसकी कला का मूल्य निहित रहता है। इस मूल्य-स्तर का आधार है शिल्प-विधान। तीसरा स्तर है कथ्य के सौन्दर्य का जो जीवन के व्यापक संदर्भों और मूल्यों से सम्बद्ध है : इसके अन्तर्गत भाव और विचार का सौन्दर्य आता है। संकीर्ण सौन्दर्यवाद इसे अस्वीकार करता है किन्तु कला के गंभीर तत्त्वचिंतक सदा से यह मानते आये हैं कि इसके बिना कला में स्थायित्व और गरिमा अथवा यह कहें कि—सौन्दर्य में स्थायी मूल्यवत्ता नहीं आती। ताजमहल के सौन्दर्य में वास्तु-कौशल का मूल्य असंदिग्ध है, पर राजसी चेतना के अभिजात संस्कारों और विरही मन के मार्दव के बिना क्या वह निष्प्राण अभिकल्प होकर न रह जाता ? बुद्ध-जीवन के सात्त्विक संदर्भों ने ही अजन्ता के चित्रों को जीवंत बनाया है। मेघदूत में मंदाक्रांता की मन्द-मधुर लय, अभिजात बिम्ब-योजना और प्रसन्न भाषा आदि तत्त्वों के कुशल प्रयोग के मूल्य का निषेध कौन कर सकता है, किन्तु विरही मन की परिष्कृत करुणा के बिना मेघदूत की रचना अलंकृत संगीत बन कर रह जाती। नटराज की मूर्ति का शिल्प-कौशल अद्भुत है, पर उसमें साकार उद्भव और संहार की ऊर्जा का मूर्ति के उदात्त सौन्दर्य में कितना बड़ा योगदान है, इसका आकलन करना कठिन नहीं है।

इस प्रकार, व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से सौन्दर्य-मूल्य के तीन स्तर-भेद और उनके अनुसार मूल्यांकन के भी तीन प्रकार के निकष या प्रतिमान माने जा सकते हैं : भौतिक सौन्दर्य के निकष, रूपात्मक सौन्दर्य के प्रतिमान और कथ्यात्मक अथवा विषयवस्तुगत भाव-विचार-सौन्दर्य के मूल्यांकन के प्रतिमान।

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य-मीमांसा के प्रतिमान

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य के उपर्युक्त स्तर-भेदों की स्वीकृति आरम्भ से ही मिलती है। कलाशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के ग्रंथों में विविध कलाओं के भौतिक उपादानों तथा रचना-प्रविधियों का अत्यंत विस्तृत और सूक्ष्म विवरण मिलता है। वर्ण्य-विषय का विवेचन भी यथास्थान हुआ है और कलाओं तथा काव्य के सौन्दर्य के माध्यम से प्रतिपादित महत्तर जीवन-मूल्यों का भी प्रयोजन रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस प्रकार, कला-सौन्दर्य

के तीन स्तर-भेद हैं—इस विषय में भारतीय तत्त्वविद् की धारणा सर्वथा स्पष्ट है।

भौतिक सौन्दर्य—अथवा सौन्दर्य के भौतिक उपादान : भारतीय वाङ्मय में वर्णित विविध कलाओं के भौतिक उपादान हैं प्रस्तर, धातु, दारु, मृत्तिका, धातुद्रव, वनस्पति आदि के रस, कण्ठ्य-वाद्य स्वर, भाषा अर्थात् ध्वनितंत्र तथा शब्दार्थ-संरूप। मानसार, समरांगणसूत्रधार, अभिलषितार्थ-चिंतामणि, अपराजितपृच्छा, शिल्परत्न आदि ग्रंथों में वास्तु-मूर्ति-चित्र कलाओं के उपकरणरूप प्रस्तर, धातु, मृत्तिका, काष्ठ, धातुद्रव, वनस्पति-रस आदि नानाविध पदार्थों के प्रयोगों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। उपकरण-सामग्री को अधिकाधिक परिष्कृत, समृद्ध, आकर्षक तथा स्थायी बनाने की अनेक विधियों का विवरण यहाँ पूरे विस्तार के साथ दिया गया है और भवन-निर्माण, प्रतिमा-शिल्प तथा आलेख्य-कर्म—तीनों के संदर्भ में उपकरण-सामग्री को अधिकाधिक मूल्यवान् बनाने का आग्रह स्थान-स्थान पर लक्षित होता है।

समरांगणसूत्रधार में सात प्रकार के प्रतिमा-द्रव्यों का उल्लेख है : सुवर्ण, रजत, ताम्र, पाषाण, दारु, लेप्य (मृत्तिका) और चित्र।

सुवर्णरूप्यताम्राश्मदारुलेख्यानि शक्तितः ।।५६।। (द्वितीय चरण)
चित्रं चेति विनिर्दिष्टं द्रव्यमर्चासु सप्तधा ।।५७।। (प्रथम चरण)

इन ग्रंथों में उक्त द्रव्यों को तैयार करने की विधियों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। हयशीर्षपंचरात्र का एक उद्धरण लीजिए—

मृत्तिकावर्णपूर्वेण गृह्णीयुस्सर्ववर्णिनः ।
नदीतीरेऽथवा क्षेत्रे पुण्यस्थानेऽथवा पुनः ।।
पाषाणकर्करालोहचूर्णानि समभागतः ।
मृत्तिकायां प्रयोज्याथ कषायेण प्रपीडयेत ।।
खदिरेणार्जुनेनाथ सर्ज्जश्रीवेण्टकुंकुमैः ।
कौटजैरायसैः स्नेहैर्दधि-क्षीर-घृतादिभिः ।।
आलोढ्य मृत्तिकां तैस्तैः स्थाने स्थाप्य पुनः पुनः ।
मासं पर्युषितं कृत्वा प्रतिमां परिकल्पयेत् ।।

अर्थात् विभिन्न वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अपने-अपने वर्णानुरूप (दे० मृत्तिका-परीक्षा—भवन-वास्तु) मृत्तिका को नदीतीर शस्य-क्षेत्र अथवा पावन-स्थानों से लाकर, उसमें मृत्तिका के समभागानुरूप—पिष्ट पाषाण, सिकता, तथा लौह का मिश्रण करें; पुनः खदिर, अर्जुन, सर्ज, श्री, वेन्ट (वेतस्) तथा कुंकुम, कौटज, आयस आदि वृक्षों के रस के साथ-साथ दधि, दुग्ध, घृत—आदि स्नेहों को उसमें मिलावें, पुनः आलोड़न करें—गोला बनावें फिर

एक मास तक परिशोषणार्थ रखें तब प्रतिमा बनावें।

उपर्युक्त विधि से मृत्तिका निश्चय ही अधिक स्थायी एवं मूल्यवान् बन जाती है और उससे निर्मित मूर्ति का कला-मूल्य उसी अनुपात में बढ़ जाता है। गुप्तकालीन गांधार-शैली की मूर्तियों की रचना प्रायः इसी द्रव्य से हुई है और उनके कलात्मक सौन्दर्य के विधान में इस द्रव्य का अंशदान असंदिग्ध है। इसी प्रकार दारु-आहरण तथा दारु-परीक्षा और शिला-आहरण एवं शिला-परीक्षा की विधियों का विवरण विष्णुधर्मोत्तरपुराण आदि ग्रंथों में मिलता है। उधर चित्र-कला के संदर्भ में चित्र-सामग्री को अधिकाधिक स्थायी एवं उपयोगी बनाने के लिए भूमिबंधन तथा लेप्य-कर्म आदि का विधान है। उदाहरण के लिए समरांगणसूत्रधार के अध्याय ५१-५२ में कुड्यभूमिबंधन तथा लेप्यकर्म का विधान इस प्रकार किया गया है :

कुड्यभूमिबंधन : अब कुड्य-भूमि के बन्धन का यथावत् वर्णन करते हैं। स्नुही-वास्तुक, कूष्माण्ड, कुद्दाली—इन वस्तुओं को लाएँ; अपामार्ग अथवा गन्ने के रस में अथवा दुग्ध में उनको सात रात तक रक्खें। शिशपा, सन और निम्बा तथा त्रिफला और बहेड़ा इनका यथालाभ समान-समान भाग लेकर और कुटज के कषाय-क्षार-युक्त सामुद्रिक नमक से पहले कुड्य (दीवाल) को बराबर बनाकर फिर इन कषायों से सींचें। फिर स्थूल पाषाण-वर्जित चिकनी मिट्टी लाकर दुगना न्यास करके, बालुका-मृदा (बालुकामयी मिट्टी) का क्षोदन करना चाहिए। फिर ककुभ, माष (उड़द), शालमली, श्रीफल इनका रस कालानुसार देना चाहिए। पूर्वकालानुक्रम से जिस प्रकार का भूमि-बन्धन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू से एकत्र करके पहले हाथी के चमड़े की मोटाई के बराबर दीवाल को लेपें। पुनः उसे दर्पण-सदृश चिकना एवं प्रस्फुटित कर दें। विशुद्ध, विमल, स्निग्ध, पांडुर, मृदुल, स्फुट—प्रथम प्रतिपादित कट-शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधि-पूर्वक कूटकर और घिसकर कल्क बनाना चाहिए और पूर्वोक्त प्रकार से भक्त-भाग का लेपन और निर्यास करना चाहिए, अथवा उसे कट-शर्करा के साथ देना चाहिए। इस प्रकार विचक्षण लोग कुड्य का लेपन करते हैं। हल से हस्त-मात्र लेपन कर कट-शर्करा देनी चाहिए। इस विधि से उत्तम कुड्य-बन्धन सम्पन्न होता है। २४-३५।।

लेप्यकर्म : "शालमली (सेमल), माष (उड़द, ककुभ, मधूक (महुआ) तथा त्रिफला इन वृक्षों का रस उस मिट्टी पर डालकर और बालू को भी मिला कर घोड़े के जटा-लोम अथवा गौओं के रोम या नारियल का बकला देना चाहिए और मिट्टी में मिलाकर फेंटना चाहिए अथवा उससे दूनी भूसी मिलानी चाहिए और जितनी बालुका हो उतनी ही मिट्टी मिलानी चाहिए। मिट्टी में कपास के दो भाग मिलाने चाहिए। इन सबको एकत्रित करके तीसरा मिट्टी

का भाग ऊपर फेंकना चाहिए। तदन्तर पूर्वोक्त कटशर्करा को रखकर कल्क बनाना चाहिए और उसे कपड़े से ढक देना चाहिए।[1] लेप्य-कर्म-मृत्तिका-निर्णय के लिए शिल्प-कौशल के साथ-साथ आवश्यक विधान भी अनिवार्य है।"

ग्रंथकर्ता का स्पष्ट मत है कि : जो शिल्पी इस विधि का कौशल-पूर्वक अवलम्बन करता है वह विधाता की सृष्टि में विपुल कीर्ति का अर्जन करता है :

इदमखिलमवैति ग्रन्थतो योऽर्थतश्च
(प्रतिवति स विधातुर्विभ्रमस्यास्य योगात् ?) (स० सू० ५१.४४)

इससे स्पष्ट है कि कला की सौन्दर्य-सृष्टि में उपादान-सामग्री का भी अपना निश्चित महत्त्व है।

संगीत का भौतिक आधार है नाद या ध्वनि, जिसकी उत्पत्ति नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धा और मुख से होती है। संगीत कला की सृष्टि में मानवीय तथा वाद्य ध्वनि के गुणों का योगदान असंदिग्ध है। स्त्रैण कण्ठ से ध्रुपद की और मन्द्र स्वर से विहाग की सफल रचना नहीं हो सकती—क्योंकि कोमल कण्ठ विहाग के सौन्दर्य और मन्द्र-ध्वनि ध्रुपद के सौन्दर्य-मूल्य में योगदान करती है। इसीलिए आवाज़ को ठीक रखने के लिए संगीतकार को प्रायः उतना ही कठिन श्रम करना पड़ता है जितना कि स्वर-साधना के लिए। संगीतशास्त्र के ग्रंथों में इसके उपायों का वर्णन भी यथास्थान मिलता है। नाट्यशास्त्र में आरभटी तथा कैशिकी आदि वृत्तियों का भेद प्रायः नाट्य तथा संगीत के भौतिक-उपकरणों के आधार पर ही किया गया है। काव्य-सौन्दर्य के भौतिक उपकरण हैं वर्ण और उनसे निर्मित भाषिक संरूप यानी शब्द। देह-वादी तथा आत्मवादी दोनों सम्प्रदायों में गुण को काव्य का प्रमुख तत्त्व माना गया है और गुण के भौतिक आधार हैं वर्ण :

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यंजकतामिताः ।।७३।।

के कस्य इत्याह।—
मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।।७४।।

ट-ठ-ड-ढ-र्वजिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफ-लकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः, समासाभावो मध्यमः समासो वेति। समासः तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यंजिका।

1. डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल के ग्रंथ 'यंत्रविज्ञान तथा चित्रकला' से उद्धृत, पृ० ६७; ६२।

अर्थात्—वर्ण, समास तथा रचना उन (तीनों गुणों) के व्यंजक होते हैं ।।७३।।

कौन (वर्ण आदि) किस (गुण) के (व्यंजक होते हैं) यह कहते हैं—

अपने शिर पर स्थित अपने-अपने वर्ग के अंतिम वर्ण से युक्त, टवर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण (**कादयो मावसानाः स्पर्शाः**' क से लेकर म पर्यन्त सारे वर्ण) 'स्पर्श' कहलाते हैं। ह्रस्व रकार तथा णकार, और (अवृत्ति) समास-रहित अथवा स्वल्प समासवाली (मध्यवृत्ति) रचना-माधुर्य में (व्यंजक होती है)

('अटवर्गाः' अर्थात्) ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर (स्पर्शाः अर्थात्) क से लेकर म पर्यन्त (कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग इन चारों वर्गों के समस्त अक्षर) शिर पर अपने वर्ग के अंतिम वर्ण से युक्त, और ह्रस्व (स्वर) से व्यवहित रेफ तथा णकार १. वर्ण, समास का अभाव (समास-रहित) अथवा मध्य-समास (स्वल्प समास) २. समास तथा अन्य पदों के साथ योग (अर्थात् संधि से) माधुर्ययुक्त ३. रचना (ये तीनों) माधुर्य (नामक गुण) के व्यंजक होते हैं।

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोः, रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्ध्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।।७५।।

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोः द्वितीय-चतुर्थयोः रेफेण अध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित्, तुल्ययोस्तेन तस्यैव संबंधः, टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः, शकार-षकारौ, दीर्घसमासः विकटा संघटना ओजसः ।

—(उक्त कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग चारों वर्गों के आद्य अर्थात् १. प्रथम (क-च-त-प-रूप) और तृतीय (ग-ज-द-ब-रूप) वर्णों के साथ उनके बाद के (अन्त्ययोः अर्थात् ख-छ-थ-फ आदि द्वितीय, तथा तृतीय के बाद के चतुर्थ ध-झ-ध-भ) वर्णों का योग (अर्थात् नैरन्तर्य या अव्यवधान से प्रयोग) तथा २. रेफ के साथ योग (अर्थात् ऊपर या नीचे किसी भी रूप में रकार का किसी भी वर्ण के साथ योग जैसे, वस्त्र, वज्र, निर्हार्द आदि में) और ३. तुल्यवर्णों का योग (जैसे, वित्त, उच्च, उद्दाम आदि में) ४. टादि (अर्थात् ट-ठ-ड-ढ वर्ण) तथा ५. श ष (ये सब वर्ण तथा) ६. दीर्घ समास एवं ७. उद्धत रचना (गुम्फ), ओज (गुण) में (व्यंजक होते हैं।)

—वर्ग क प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उनके बाद के अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का २. ऊपर, नीचे, अथवा दोनों जगह विद्यमान रेफ के साथ जिस किसी वर्ण का ३. दो तुल्य वर्णों का अर्थात् (वित्त, उद्दाम आदि के समान) उसका उसी वर्ण के साथ योग ४. टवर्ग अर्थात् णकार को छोड़कर

(ट-ठ-ड-ढ का प्रयोग) ५. शकार तथा षकार का प्रयोग ६. दीर्घ समास और ७. विकट रचना ओज (गुण) के व्यंजक होते हैं।

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥७६॥

(सूत्र १०१)—जिस (शब्द, समास या रचना) के श्रवण-मात्र से शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वह सब (वर्णों, समासों तथा रचनाओं) में रहने वाला प्रसाद गुण माना जाता है ॥७६॥

वर्णों के अतिरिक्त शब्द तथा अन्य भाषिक संरूप भी काव्य-सौन्दर्य के मूर्त आधार हैं, क्योंकि कवि काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि वर्णों के आधार पर नहीं वरन् भाषा के आधार पर करता है। जैसे मूर्ति-शिल्पी मृत्तिका को या चित्रकार लेप्य-सामग्री आदि को तैयार करता है, वैसे कवि भाषा को गढ़ता नहीं है। व्यवहार और व्याकरण से गढ़ी हुई भाषा को वह उसी प्रकार ग्रहण करता है जैसे वास्तु-शिल्पी या मूर्तिकार पाषाण-शिला आदि उपादानों को। भारतीय काव्यशास्त्रकार इस तथ्य से अवगत है, वह काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि में भाषा-रूप प्रकृत सामग्री के योगदान की कीमत जानता है, इसीलिए भामह, रुद्रट आदि प्रायः सभी देहवादी आचार्यों ने अपने ग्रंथों में भाषा के प्रकृत रूप 'शब्द' का विवेचन किया है। भाषा की अपनी प्रकृति का मूल्य-काव्य-सौन्दर्य की मूल्यवत्ता का प्रारम्भिक रूप है—उक्त तथ्य इस मान्यता का प्रमाण है।

उपर्युक्त सभी उपादानों में दो प्रकार के गुण होते हैं—आंतरिक और प्रातीतिक। आंतरिक गुणों का सम्बन्ध उन भौतिक तत्त्वों से है जिनके द्वारा पदार्थ का निर्माण होता है। पदार्थ में स्थायित्व, आभा, मार्दव, मसृणता आदि गुणों की उत्पत्ति इन्हीं तत्त्वों से होती है। प्रातीतिक गुणों का संबंध प्रमाता की ऐन्द्रिय चेतना के साथ है। पदार्थ के वे गुण, जो प्रमाता की ऐन्द्रिय चेतना के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर उसका प्रसादन करते हैं, प्रातीतिक गुण हैं: नयनाभिरामत्व या दर्शनीयता, श्रुतिपेशलता, स्पर्शसुखदता आदि इसी प्रकार के गुण हैं। भारतीय वाङ्मय में इन प्रातीतिक गुणों का उल्लेख प्राकृतिक सौन्दर्य-रूपों और कलात्मक सौन्दर्य-रूपों—दोनों के संदर्भ में स्पष्ट शब्दों में किया गया है। वैदिक ऋचाओं, रामायण-महाभारत, अभिजात संस्कृत काव्य में रूप और वाणी आदि के लिए प्रयुक्त दर्शनीय, नयनाभिराम, प्रियदर्शन, मधुर, श्रुतिसुखद आदि विशेषण इसके प्रमाण हैं। उधर काव्य-शास्त्र तथा कलाशास्त्र में भी काव्य तथा अन्य कलाओं के विविध भौतिक उपकरणों के ऐन्द्रिय तत्त्वों के योगदान की स्वीकृति निश्चय ही मिलती है।

गीता के 'विराट्-रूप' प्रसंग का विश्लेषण करते हुए हमने सौन्दर्य की ऐन्द्रिय-प्रतीति के इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है।

सौन्दर्य के भौतिक उपादानों की मूल्यवत्ता का आधार क्या है, इस प्रश्न पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए। ज़ाहिर है कि क़ीमत या बाज़ार भाव के आधार पर भौतिक उपादानों के सौन्दर्य-मूल्य का आकलन नहीं किया जा सकता। स्वर्ण और रजत धातुएँ कांस्य की अपेक्षा मूर्ति के रचना के लिए कम उपयुक्त हैं: नटराज की मूर्ति का विराट् सौन्दर्य स्वर्ण में मूर्तित नहीं हो सकता। इसी प्रकार अजन्ता के चित्रों में सोने-चाँदी के पानी से काम नहीं चल सकता था। कोकिल-स्वर अत्यंत मधुर होता है किन्तु ध्रुपद के उदात्त-सौन्दर्य की सृष्टि के लिए उसका विशेष मूल्य नहीं है। बुलंद दरवाज़ा का वास्तु-सौन्दर्य संगमरमर में रूपायित नहीं हो सकता था और न मीरा का हृदय-संगीत विनयपत्रिका की प्रौढ़ भाषा में मुखरित हो सकता था। कहने का अभिप्राय यह है कि भौतिक उपादान की मूल्यवत्ता उसके प्राकृत गुणों—स्थायित्व आदि—पर एक सीमा तक तो निश्चय ही आश्रित रहती है: पर उपादान की मूल्यवत्ता का वास्तविक आधार बाज़ार-भाव नहीं है—उसके वास्तविक आधार तीन हैं: १. ऐन्द्रिय चेतना के प्रसादन की शक्ति, २. सौन्दर्य-रचना की प्रविधि-प्रक्रिया के अनुकूल ढलने की योग्यता, और ३. मूल सौन्दर्य-अभिप्राय को अभिव्यक्त करने की क्षमता।

सौन्दर्य का दूसरा स्तर है रूपात्मक। इसके अन्तर्गत रचना अथवा निर्मिति का सौन्दर्य आता है। जैसा कि हम परिच्छेद ३ और ५ में स्पष्ट कर चुके हैं, भारतीय वाङ्मय में रूप-रचना की प्रविधि-प्रक्रिया का अत्यंत सूक्ष्म-विस्तृत, एवं सर्वांगपूर्ण विवरण मिलता है। वैदिक साहित्य में ऋक्, यजु और अथर्व में वास्तुकला के और साम में संगीत के रचना-विधान का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है। ऋग्वेद की यह उक्ति कि सुवृक्ति (ऋचा) का निर्माण कुशल शिल्पी रथ के समान करता है—'रथं न धीरः स्वपा अतक्षम् (५.२.११)'—इस बात का प्रमाण है कि वैदिक सौन्दर्य-चिंतक सौन्दर्य के रूपात्मक अथवा शैल्पिक पक्ष को कितना महत्त्व देता था। परवर्ती वाङ्मय में पुराण, स्मृतिग्रंथ, कलाशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के ग्रंथ प्राविधिक विवरणों से भरे पड़े हैं—अनेक ग्रंथों में रूपात्मक पक्ष इतना प्रमुख हो गया है कि सौन्दर्य का प्राणतत्त्व सर्वथा उपेक्षित रह गया है। किन्तु भारतीय मनीषी कला-निर्मिति के इस रहस्य से पूर्णतः परिचित था कि शास्त्रीय ज्ञान और प्रायोगिक कौशल दोनों के उचित संयोग से ही सौन्दर्य की सृष्टि होती है:

न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म, न शास्त्रमपि कर्मवित् ।
यो वेत्ति द्वयमप्येतत् स हि चित्रकरो वरः ।।
(समरांगणसूत्रधार—५३।१९-१९१/२)

शास्त्रज्ञ रचना-कौशल से अनभिज्ञ होता है और शिल्पकार शास्त्रज्ञान से । जो इन दोनों में निपुण होता है, वही सफल चित्रकार है ।

रूपविधायिनी कलाओं के प्रसंग में कलाशास्त्रीय ग्रंथों में रचना—प्रविधि का अत्यंत सूक्ष्म-विस्तृत वर्णन किया गया है । उदाहरण के लिए काम-सूत्र के टीकाकार यशोधर ने चित्र की रचना-प्रक्रिया के षडंग का विवेचन इस प्रकार किया है :

रूपभेदाः, प्रमाणानि, लावण्यं, भावयोजनम् ।
सादृश्यं, वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम् ।।

रूप-भेद का अर्थ है चित्र्य विषय के उचित आकार-प्रकार आदि की रचना । प्रमाण-प्रक्रिया के अन्तर्गत उसके विविध अवयवों के (अण्डक-प्रमाण आदि के आधार पर निर्धारित) आनुपातिक माप यानी अंगकद का विवेचन हुआ है । उदाहरण के लिए समरांगणसूत्रधार के अनुसार नारी का अंगकद इस प्रकार का होना चाहिए :

"नाभि के मध्य में ४६ अंगुल का परीणाह होता है । स्तनों के बीच बारह अंगुल का अंतर होना चाहिए । दोनों स्तनों के ऊपर कक्ष प्रान्तों का प्रमाण छह अंगुल का और पृष्ठभाग का विस्तार चौबीस अंगुल का होना चाहिए । वक्षस्थल के परीणाह का प्रमाण-निर्देश पृष्ठभाग के साथ ही कर दिया है ।" (प्रतिमा-लक्षण—अध्याय ५६।३९-४१) ।[1] लावण्य से अभिप्राय है आंतरिक छवि जो समग्र कृति में मोती में आब की तरह व्याप्त रहती है । भावयोजना भावाभिव्यक्ति तथा रसाभिव्यक्ति का पर्याय है । भारतीय वाङ्-मय में काव्य के समान, अन्य कलाओं का प्राण भी रसतत्त्व या भावतत्त्व ही माना गया है । चित्र तथा प्रतिमा कलाओं के संदर्भ में तो विभिन्न अनुभावों, मुद्राओं तथा रस-दृष्टियों के द्वारा भाव-व्यंजना का सूक्ष्म विवेचन है ही, वास्तु-कला में भी शम, औदार्य्य, ऐश्वर्य,—या औदात्त्य, लालित्य आदि की व्यंजना का निश्चित विधान है ।—आधुनिक वास्तुकला की भाँति प्राचीन भारतीय वास्तुकला का प्रयोजन केवल व्यवहारोपयोगी भवनों का निर्माण नहीं रहा : उसमें जीवन के विविध रूपों की अभिव्यक्ति का स्पष्ट विधान है । सादृश्य से

१. डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल के ग्रंथ से उद्धृत ।

तात्पर्य यह है कि चित्र में मूल वस्तु के रूपसाम्य का अंकन रहना चाहिए। यह सादृश्य दर्पणवत् अर्थात् पूर्णतः यथार्थपरक भी हो सकता है और प्रातिभासिक भी। विद्ध चित्र में यथार्थपरक प्रत्यंकन रहता है और अविद्ध चित्र में यह सादृश्य कल्पनागम्य रहता है। वर्णिकाभंग के अन्तर्गत विषय के अनुरूप नाना प्रकार के रंगों के प्रयोग की व्यवस्था रहती है जो चित्र के रूप को उजागर करते हैं और रसाभिव्यक्ति में भी योग देते हैं।—विष्णुधर्मोत्तर-पुराण के 'चित्रसूत्र' में आलेख्य प्रक्रिया के अंगों का प्रकारान्तर से वर्णन हुआ है: **'रेखा च वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च।'**—अर्थात् चित्र-कर्म के चार अंग हैं: रेखा, वर्तना, अलंकार तथा वर्ण-योजना। रेखाओं के द्वारा चित्रकार आकृति का अंकन करता है, वर्तना क्षयवृद्धि पर आधृत है जिसके द्वारा गहराई घनत्व, ऊँचाई-निचाई आदि की व्यंजना होती है। अलंकार चित्र की शोभा में अभिव्यक्ति करने वाले सज्जा-प्रयोग हैं और वर्णयोजना में विविध रंगों का प्रयोग-कौशल निहित रहता है।

इन प्रयोग-विधियों के द्वारा चित्रकार और मूर्तिकार सौन्दर्य की सृष्टि करता है। अतः इनका सम्बन्ध कला के रूपात्मक सौन्दर्य के साथ है और चित्र-मूर्तिकला के रूपात्मक सौन्दर्य का आकलन इन्हीं के आधार पर होता है। 'चित्रसूत्र' में इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति है:

रेखां प्रशंसन्त्याचार्याः वर्तना च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः॥

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि रेखा और वर्तना का मूल्य अलंकार तथा वर्ण-योजना की अपेक्षा अधिक है—और इन दोनों में भी कलाविदग्ध जन वर्तना को ही, जो व्यंजना के समक्ष है, प्राथमिकता देते हैं। प्रमाण-प्रक्रिया के द्वारा कलाकार सममिति, समानुपात एवं सौश्लिष्ट्य अथवा समन्विति की सृष्टि करता है; लावण्य से छवि की प्रतीति होती है और सादृश्य-विधान से कलाकृति 'प्रकृति के अनुरूप' बनती है अर्थात् उससे जीवन-सत्य का आभास होता है। यह सादृश्य वस्तुगत भी हो सकता है और कल्पनात्मक भी—अर्थात् केवल भौतिक यथार्थ की प्रतीति ही सादृश्य विधान की सिद्धि नहीं है: कलाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा में अयथार्थ को भी यथार्थवत् प्रस्तुत करने की क्षमता होती है: **'अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः।'** (महाभारत)।

संगीत कला में सौन्दर्य का मूर्त रूप है राग जिसकी रचना के लिए संगीतकार स्वर-साधना—अर्थात् उनमें अनुक्रम, तारतम्य, अन्विति की स्थापना करता हुआ श्रुति, मूर्च्छना, ग्राम, जाति, आदि नाना संरूपों की रचना करता है। यही स्वर-संरचना संगीत का रूपात्मक सौन्दर्य है और यही उसके

मूल्यांकन का आधार है।

काव्य के सौन्दर्य-विधान के साधन हैं रीति, गुण, वक्रोक्ति, अलंकार आदि जिनका भारतीय काव्यशास्त्र में विस्तार से विवेचन किया गया है। रीति-सिद्धान्त में शब्द और अर्थ की अनेक संयोजनाओं का विधान है, इसी प्रकार अलंकारवादी आचार्यों ने शब्दार्थ के नानाविध संरूपों का विवेचन किया है जिनके द्वारा काव्य के रूपात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। वक्रोक्ति का क्षेत्र और भी विस्तृत है, उसमें वर्ण-योजना से लेकर प्रबन्ध-विधान तक—सौन्दर्य-संरचना के सूक्ष्म-जटिल एवं व्यापक संरूपों की रचना का विधान है। शब्दार्थमय-सौन्दर्य के रूप-विधान का इतना परिपूर्ण विवेचन किसी भी प्राचीन वाङ्‌मय में दुर्लभ है। संरचना की यह प्रक्रिया वर्णों के प्रयोग-कौशल से आरम्भ होती है और उसमें सार्थक शब्द के प्रत्यय-उपसर्ग-प्रातिपदिक जैसे सूक्ष्म भाषिक अवयव, वाक्य-रूप, तथा कथावस्तु—सभी से सम्बद्ध अनेकविध प्रयोग अंतर्भुक्त हैं। शब्दार्थ का श्रौत तथा व्याकरणिक रूप काव्य का भौतिक आधार है, और गुणालंकारसम्पदा से युक्त शब्दार्थ-पाक उसका कलात्मक आधार। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के इस रूपात्मक सौन्दर्य के मूल्यांकन के प्रतिमान उपर्युक्त सिद्धान्तों में ही निहित हैं। रीति-सिद्धान्त पद-रचना अथवा शब्दार्थ-पाक को अलंकार-सिद्धान्त उक्ति-चमत्कार को, और वक्रोक्ति-सिद्धान्त उक्ति के स्तर पर विचित्र-कथन-भंगिमा तथा प्रबन्ध के स्तर विषय-वस्तु के विन्यासकौशल को रूपात्मक सौन्दर्य का प्रतिमान मानता है। वास्तव में देहवादी सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित काव्य-सौन्दर्य के प्राणभूत तत्त्व—रीति-गुण, अलंकार तथा वक्रोक्ति ही सिद्धान्त में रूपात्मक सौन्दर्य-मूल्य हैं और व्यवहार में ये ही उसके प्रतिमान भी हैं।

सौन्दर्य-मूल्य का तीसरा स्तर है विषयवस्तुगत सौन्दर्य जिसे सेंटायना ने साहचर्यमूलक सौन्दर्य कहा है। यह अर्थगत सौन्दर्य है जिसे विविध कलाएँ अपने-अपने माध्यम उपकरणों के द्वारा रूप देती हैं। चित्र, मूर्ति, नृत्य कलाओं के संदर्भ में इसकी संज्ञा है 'अभिप्राय', काव्य के संदर्भ में 'काव्यार्थ' है और सामान्य भाषा में यह 'भाव-विचार-तत्त्व' का वाचक है। सौन्दर्यवादी तथा कलावादी विचारक इसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते : क्रोचे ने इसे मात्र संवेदन पुंज या कला का 'कच्चा माल' कहा है और नया समीक्षक (विमसाट) भाव-तत्त्व को 'रागात्मक हेत्वाभास' और विचार-तत्त्व को **'वैचारिक हेत्वाभास'** कहकर तिरस्कृत करता है। परन्तु कला-मर्मज्ञों का बहुमत इसे, कम-से-कम व्यावहारिक दृष्टि से, निरन्तर मान्यता देता आया है। भारतीय चिंतक भी वागर्थ की सम्पृक्ति तथा रूप की अनिवार्यता के रहस्य से आरम्भ से ही अवगत रहा है, किन्तु अर्थ—भाव और विचार-तत्त्व—के गौरव का निषेध उसने

कभी नहीं किया—वामन जैसे नितांत सौन्दर्यवादी आचार्य ने भी अर्थ-गुणों के अंतर्गत भाव और विचार के सौन्दर्य को प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया है। कलात्मक भाव या भाव-सौन्दर्य तथा कलात्मक विचार या विचार-सौन्दर्य से क्या तात्पर्य है, इसका विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र के रस, ध्वनि तथा वक्रोक्ति सिद्धान्तों के अन्तर्गत अत्यन्त मार्मिक रीति से हुआ है।

रस-सिद्धान्त, भाव-सौन्दर्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित है। उसके अनुसार लौकिक या प्रकृत भाव विभावन व्यापार के द्वारा कलात्मक भाव—'सुन्दर' भाव—बन जाता है। कवि की सर्जनात्मक कल्पना के द्वारा प्रकृत भाव के लौकिक कारण देशकाल में परिबद्ध अपनी विशिष्ट सीमाओं को पार कर 'विभावों' में, अनुकार्य 'अनुभावों' में परिणत हो जाते हैं और उसके पोषक अस्थिर चित्तविकार सम्बन्ध-सम्बन्धी की भावना से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रकृत भाव स्व-पर की चेतना तथा व्यक्तिगत रागद्वेषादि से मुक्त, अहंकार से निर्लिप्त होकर विशदीकृत या निर्मल बन जाता है। भाव का यह परिष्कृत रूप ही उसका सौन्दर्य है।—प्रकृत भाव रागद्वेष, विषयजन्य सुख-दुःख आदि से लिप्त रहता है। काव्यगत या कलागत भाव शुद्ध-परिष्कृत एवं विशद और इसीलिए प्रकृतभाव की अपेक्षा 'सुन्दर' होता है। मनोविज्ञान के अनुसार भी व्यक्ति-सीमाओं से मुक्ति ही भाव का उन्नयन है—वही उसका सौन्दर्य है। इस प्रकार रस भाव-सौन्दर्य का ही पर्याय है।

भाव के इस परिष्कार को रीति-गुणवादियों ने भी 'अग्राम्यता', 'सौकुमार्य' आदि अर्थगुणों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। दण्डी ने माधुर्य गुण के प्रसंग में 'सरस अर्थ' की व्याख्या करते हुए विश्वस्त भाव से कहा है: यद्यपि सभी अलंकार अर्थ में रस का निषेक करते हैं, फिर भी उसके लिए (अर्थ की सरसता के लिए) अग्राम्यता ही प्रधानतः उत्तरदायी होती है। "हे कन्ये! मैं काम से पीड़ित हूँ। तुम मुझे क्यों नहीं चाहतीं?"—इस प्रकार का ग्राम्य अर्थ सहृदय के मन में विरसता ही उत्पन्न करता है। "हे सुनयने! कन्दर्प चाण्डाल मेरे प्रति निर्दय है, पर भाग्यवश तुम्हारे प्रति उसके मन में द्वेषभाव नहीं है।"—इस प्रकार का अग्राम्य अर्थ रसावह होता है।

—उपर्युक्त दोनों छन्दों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले छन्द द्वारा व्यक्त भाव में औचित्य (शील) का विघात होने से कामना का नग्न और प्राकृत रूप मिलता है जबकि दूसरे में कल्पना-तत्त्व का समावेश हो जाने से उसका परिष्कार हो गया है। वामन के 'सौकुमार्य' गुण में भी अर्थ-सौन्दर्य के आधार-तत्त्व कोमल भावना (अन्य के प्रति सद्भाव) और कल्पना ही हैं। 'वह मर गया'—इस उक्ति के अर्थ में पारुष्य या कठोरता मिलती है। किन्तु यदि कहा जाय कि 'वह यशःशेष हो गया' तो

इसमें मृत व्यक्ति के प्रति सम्मान और उसके स्वजनों के प्रति सद्भाव का समावेश हो जाने से तथ्य की कठोरता का परिहार हो जाता है।

तत्त्व-दृष्टि से रस को अखण्ड माना गया है अतः रसों में तारतम्य की कल्पना सिद्धान्ततः संगत नहीं है। किन्तु व्यवहार में सब रसों का महत्त्व समान नहीं है : उदाहरण के लिए—नाटक और महाकाव्य जैसे महत्तर काव्य-रूपों में शृंगार, शांत, वीर और करुण का ही अंगी रस में विधान किया गया है। इस सापेक्षिक महत्त्व का आधार यह है कि रौद्र, बीभत्स, हास्य और अद्भुत की अपेक्षा उपर्युक्त रसों का जीवन के उच्चतर मूल्यों—धर्म (शांत), अर्थ (वीर) और शृंगार (काम)—के साथ अत्यन्त घनिष्ठ एवं अन्तरंग सम्बन्ध है। इस प्रकार रस-चक्र के अन्तर्गत भी, कम-से-कम व्यवहार दृष्टि से भाव-सौन्दर्य में मूल्य का तारतम्य रहता है। इतना ही नहीं, शृंगार—जैसे सर्वाधिक मूल्यवान् रस में भी संभोग की अपेक्षा विप्रलंभ के अन्तर्गत भाव-सौन्दर्य अधिक रहता है क्योंकि उसमें भोग के कारण भाव का क्षय नहीं होता और ऐन्द्रिय तत्त्व के गौण होने से मनस्तत्त्व का प्राधान्य हो जाता है। 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' के अन्त में विरह की अग्नि में तप कर शृंगार का जो शुद्ध रूप निखरकर आता है वह आरम्भिक भोग-प्रधान रूप की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है क्योंकि नैतिक तत्त्वों का समावेश हो जाने से वहाँ भाव का उन्नयन हो गया है। इसी प्रकार करुण, वीर, रौद्र आदि अन्य रसों में भी भाव की सीमा का विस्तार हो जाने—व्यष्टि की सीमा पार कर समष्टि तक व्याप्त हो जाने से—भाव-सौन्दर्य में वृद्धि हो जाती है। व्यक्तिगत क्रोध प्रायः तामसिक होता है, किन्तु सामाजिक अन्याय-अत्याचार आदि के प्रति उत्पन्न रोष सात्त्विक होने के कारण सुन्दर होता है। आचार्य शुक्ल ने नैतिक धरातल पर अत्यन्त आश्वस्त रीति से शोक, क्रोध, उत्साह आदि के सौन्दर्य का विवेचन किया है।

विचार-तत्त्व के सौन्दर्य का निर्वचन भी प्रायः इसी पद्धति से किया जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र में पुरुषार्थ की सिद्धि और उसके साधन-भूत व्यवहार-ज्ञान अर्थात् सदसत् तथा कर्तव्याकर्तव्य के विवेक को काव्य का प्रयोजन माना गया है। संगीत, चित्र-मूर्ति तथा वास्तुकलाओं के मूल में भी विविध दार्शनिक संकल्पनाओं की निश्चित प्रेरणा रही है और इसीलिए प्रायः समस्त कलाशास्त्रीय ग्रंथों में धर्म-भावना का प्राधान्य मिलता है। भारतीय वास्तुकला, मूर्ति-चित्र आदि पर शैव-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, तथा भक्ति-सम्प्रदायों का गहरा प्रभाव इसका प्रमाण है। वास्तव में काव्य और कलाओं में विचार-तत्त्व की अवस्थिति के विषय में भारतीय मनीषी को कभी सन्देह नहीं रहा और उसने सर्वथा निर्भ्रान्त रूप से विचार-तत्त्व और कला-तत्त्व के सहभाव

की प्रतिष्ठा की है। काव्य में भी शास्त्र की भाँति आध्यात्मिक-धार्मिक तथा नैतिक-सामाजिक विचारों का प्रतिपादन रहता है, किन्तु अन्तर यह है कि शास्त्र की पद्धति जहाँ तर्क-प्रधान होती है, वहाँ काव्य की पद्धति में भाव-कल्पना का प्राधान्य रहता है। शास्त्र सत्य की **विवेचना** करता है, काव्य उसकी **व्यंजना** करता है, शास्त्र सत्य को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है, काव्य उसे सुन्दर बना देता है :

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥ (व० जीवित १.३)

जीवन के धार्मिक-नैतिक विचारों को सुकुमार अर्थात् सुन्दर रूप में प्रस्तुत कर काव्यबन्ध संस्कृत प्रमाताओं के चित्त का अनुरंजन करता है। कवि-कलाकार विचार को सुन्दर रूप प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार की प्रविधियों का प्रयोग करता है। इनमें सबसे अधिक प्रभावी विधि है व्यंजना जो कल्पना पर आश्रित है। विचार या तथ्य का तर्क-सम्मत निरूपण नीरस होता है किन्तु कल्पनात्मक अभिव्यक्ति उसे सुन्दर बना देती है। सूक्तियों (सालंकार उक्तियों) में विचार-सौन्दर्य का यही रूप प्राप्त होता है :

१. **यदुच्यते पार्वति! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः**
(कु० सं० २)

—जो पाप की ओर उन्मुख होता है, वह रूप है ही नहीं।

२. **सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।**
(शि० व०)

—सती नारि निश्चल प्रकृति परलोकहु सँग जाति!

३. **यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—**
माविष्कृतारुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु। (अ० शा० ४.२.)

एक ओर ओषधियों का स्वामी चन्द्रमा अस्त हो रहा है और दूसरी ओर अरुणपुर:-सृत सूर्य का उदय हो रहा है। इन परमतेजस्वी ज्योतिष्पिण्डों का एक साथ उत्थान और पतन मानो संसार को अपने हर्ष-शोक में स्थिर रहने की शिक्षा देता है।

विचार को सुन्दर बनाने की अन्य प्रभावी विधियाँ हैं—संदर्भ-कल्पना, चरित्र-योजना, कथा-विधान आदि। कवि-कलाकार विचार का प्रत्यक्ष कथन न कर उसे किसी रमणीय संदर्भ में प्रतिष्ठित कर देता है। उदाहरण के

लिए कालिदास राजा की आचारसंहिता का विवेचन करने के लिए रघुवंशी नरेशों के जीवन-संदर्भ की कल्पना इस प्रकार करते हैं :

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ।।
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ।।
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ।।
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धक्येमुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।। (रघुवंश १.५-८)

मैं आजन्म शुद्धाचरण करने वाले, फलसिद्धि तक कर्तव्य कर्म करने वाले, समुद्रपर्यन्त साम्राज्य का शासन करने वाले, स्वर्ग तक अप्रतिहत गति से पहुँचने वाले रथ से सम्पन्न, यथाविधि यज्ञकर्म करने वाले, याचकों को मन-चाहा दान और अपराधियों को यथोचित दण्ड देने वाले, यथासमय प्रबोध प्राप्त करने वाले, त्याग के लिए अर्थ-संचय और सत्य के लिए मितभाषण करने वाले, कीर्ति के लिए विजय की आकांक्षा करने वाले, संतति के लिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले, बाल्यावस्था में विद्याध्ययन तथा यौवन में विषयों की कामना करने वाले, वृद्धावस्था में मुनियों का जीवन व्यतीत करने वाले और योग के द्वारा शरीर का त्याग करने वाले (रघुवंश के नरेशों का वर्णन करता हूँ) । राजा के जीवनादर्श के सम्बन्ध में मनुस्मृति आदि में प्रतिपादित नीरस विचार एक उदात्त संदर्भ में प्रतिष्ठित होकर सुन्दर बन गए हैं ।

संदर्भजात विचार-सौन्दर्य का एक और उदाहरण लीजिए—प्रजा का अनुरंजन, उसके सुख-दुःख की चिन्ता राजा का प्रमुख कर्तव्य है । इस विचार को भवभूति ने राग के स्पर्श से सुन्दर बना दिया है :

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा ।।

(उ० रा० च० १.१२)

—स्नेह, दया, सुख और चाहे जानकी भी क्यों न हो, लोक के अनुरंजन के लिए इनमें से किसी का भी त्याग करने में मुझे पीड़ा नहीं होगी । कथा-विधान की दृष्टि से जानकी त्याग के इस संदर्भ का सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है क्योंकि इसमें नाटक की बीज-घटना का अज्ञात संकेत निहित है । पाश्चात्य

नाट्यकला की शब्दावली में इस प्रकार के प्रयोग को नाट्यापह्नुति (ड्रैमेटिक आयरनी) कहते हैं। इसी विचार को कालिदास ने एक अन्य भव्यतर संदर्भ-योजना के द्वारा और भी सुन्दर बना दिया है। राज्य के धनमित्र नामक नागरिक की मृत्यु का समाचार सुनकर राजा दुष्यंत इस प्रकार की राजकीय घोषणा का आदेश देता है :

येन येन वियुज्यंते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥

(अ० शा० ६.२३)

अर्थात् मेरे प्रजाजन अपने जिस-किसी भी स्नेही बन्धु से वियुक्त हो जाएँ—उसके स्थान -पर, पाप-संबंधों को छोड़कर, दुष्यन्त को मानें।—भवभूति के राम की उक्ति में त्याग-भावना के समावेश से गरिमा आ गयी है। किन्तु कालिदास की संदर्भ-कल्पना सहृदयता के अपूर्व संस्कार से अभिषिक्त है जिससे कर्तव्य की धारणा अत्यन्त सरस बन गयी है—विचार में अद्भुत रमणीयता का समावेश हो गया है। कालिदास मानव-सम्बन्धों के सौन्दर्य के प्रति कितने जागरूक हैं, इसका प्रमाण यह है कि राजा उद्विग्न मनःस्थिति में भी 'पापादृते' कहना नहीं भूलता।

उपर्युक्त संदर्भों के विषय में अभिव्यंजनावादी (रीतिगुणवादी या वक्रोक्तिवादी) तर्क दे सकता है कि यह तो कथन की भंगिमा का चमत्कार है, विचार का सौन्दर्य नहीं। किन्तु उसका तर्क मान्य नहीं हो सकता क्योंकि इन उक्तियों में शब्दार्थ का चमत्कार—अलंकार, पद-लालित्य अथवा रीति-सौन्दर्य ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता। व्यंजना का चमत्कार यहाँ अवश्य मिलता है, परन्तु व्यंजना का संबंध केवल अर्थ के साथ भी (अपेक्षाकृत अधिक) रहता है : **यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।**

चरित्र-योजना की परिधि अधिक व्यापक और प्रविधि अधिक अप्रत्यक्ष है। कुशल चरित्रस्रष्टा अपने आदर्श जीवन-सिद्धांतों को पात्रों के चारित्रिक गुणों, शोभन-कर्मों तथा उदात्त विकारों के द्वारा प्रतिफलित करता है। पात्रों का चारित्रिक सौन्दर्य मूलतः कथाकार के वैचारिक सौन्दर्य का ही मूर्त रूप होता है। राम, सीता, भरत, रघु, अज, महाश्वेता, शुकनास आदि जीवन की विविध सुन्दर संकल्पनाओं के ही प्रतिरूप हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार के पात्र सत्कल्पनाओं के प्ररूप मात्र हों : जटिल और विकासशील चरित्रों के मूल में भी जीवन की सुन्दर अवधारणाएँ विद्यमान रहती हैं, परन्तु वे सरल न होकर जटिल और संश्लिष्ट होती हैं—कर्ण, लक्ष्मण, मेघनाद, पुरूरवा, वसंतसेना आदि इसी प्रकार के पात्र हैं जिनकी चरित्र-रेखाएँ अपनी प्रेरक जीवन-संकल्पनाओं

की भाँति ऋजु-सरल न होकर संकीर्ण हैं। इन चरित्रों की गरिमा अथवा सुन्दरता काफ़ी हद तक कलाकार के मूलवर्ती विचार की गरिमा अथवा सुन्दरता का मूर्त रूप है और इनका सौन्दर्य-मूल्य या कलात्मक मूल्य उसी हद तक इनके द्वारा व्यंजित विचार के मूल्य का प्रतीक है।

कथा-विधान के विषय में यही सत्य है। कथाकार अपनी जीवन-दृष्टि के अनुरूप घटनाओं का विन्यास करता है। उसके मन में एक मूल संकल्पना और उससे सम्बद्ध अनेक सहचारी संकल्पनाएँ होती हैं जिनके आधार पर वह कथा के प्रसंगों की सृष्टि तथा आयोजन करता है : विद्यमान का संशोधन और अविद्यमान की कल्पना करता है। इस मूल विचार को आनन्दवर्धन ने प्रबंध-ध्वनि और भोज ने महावाक्यार्थ कहा है। प्रबंध की संरचना का सौन्दर्य इसका प्रतीक है : उसी के आधार पर मूल विचार के सौन्दर्य का मूल्यांकन किया जाता है और मूल विचार का सौन्दर्य ही प्रबंध-विधान के सौन्दर्य की आधार-शिला है। ध्वनि-सिद्धांत तथा वक्रोक्ति-सिद्धांत के अन्तर्गत प्रतिपादित वास्तु-कल्पना की अनेक विधियों का लक्ष्य कवि-कलाकार के विचारों को बहुविध सौन्दर्य से मण्डित करना ही तो है।

कथा का अर्थ है घटना-विधान—एक ऐसा संरूप जिसका निर्माण परस्पर-सम्बद्ध घटनाओं के संयोजन से होता है। अतः सौन्दर्य की अवस्थिति घटना या घटना-चक्र में और विकास-क्रम दोनों में हो सकती है। घटना का सौन्दर्य वस्तुगत सौन्दर्य है और विन्यास-क्रम का सौन्दर्य रूपगत है। घटना का सौन्दर्य क्या है ? उसमें निहित या उसके द्वारा व्यक्त विचार अथवा भाव का सौन्दर्य। राम राज्याभिषेक के अवसर पर वनवास का आदेश अत्यन्त सौम्यभाव से स्वीकार कर लेते हैं—यह घटना इसलिए सुन्दर है क्योंकि यह राम के शील और सौजन्य की व्यंजक है। महाभारत का दुष्यंत लोकापवाद के भय से शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है किन्तु कालिदास की सौन्दर्य-चेतना दुर्वासा के शाप की कल्पना कर इस असुन्दर प्रसंग का संस्कार कर देती है। रघुवंश के पंचम सर्ग में कालिदास ने एक घटना का वर्णन किया है। कौत्स मुनि जब रघु के पास पहुँचे तो उन्होंने मिट्टी के पात्र में अर्घ्य रखकर उनका स्वागत किया। इसी से कौत्स को राजा की स्थिति का ज्ञान हो गया, इसलिए उन्होंने राजा से कुछ माँगना उचित न समझा और सामान्य कुशल वार्ता के बाद जाने लगे तो—

इतना कह कर जाने के लिए उद्यत (वरतन्तु) महर्षि के शिष्य (कौत्स) को रोक कर राजा (रघु) ने 'हे विद्वन् ! आपको (गुरुदक्षिणा रूप में) गुरु जी को क्या वस्तु और कितनी (मात्रा में) देनी है'—यह उनसे पूछा ॥४॥

वेदों का पारंगत (एक विद्वान्) गुरुदक्षिणा के लिए धन का याचक

होकर आया, और रघु के पास से इच्छा की पूर्ति न हो सकने से किसी दूसरे दानी के पास गया, इस प्रकार की मेरी अपकीर्ति जो आज तक कभी नहीं हुई थी, न होने पावे ।।५।।

जिस पर (रघु) आक्रमण करने वाले थे उस कुबेर के पास से (बिना आक्रमण किए हुए ही) प्राप्त हुई वज्र द्वारा काटे गए सुमेरु पर्वत के शिखर के समान चमकती हुई सारी स्वर्ण की राशि को राजा रघु ने कौत्स को दे दिया ।।६।।

अयोध्यावासी लोगों के लिए गुरु को देने वाले धन से अधिक धन की इच्छा न करने वाला याचक (कौत्स), और याचक की इच्छा से भी अधिक देने वाला राजा (रघु) दोनों ही प्रशंसनीय स्वभाव वाले प्रतीत होते थे ।।७।।

इस घटना के सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए कुंतक लिखते हैं कि कुबेर के प्रति (एक साधारण) सामन्त की सम्भावना से (अर्थात् साधारण सामन्त राजा समझकर रघु ने) जो विजय करने का निश्चय किया है वह (रघु की अलौकिक सामर्थ्य एवं आत्मविश्वास को सूचित करता हुआ) कुछ अपूर्व सहृदय-हृदय-हारिता को प्राप्त हो रहा है । और 'जनस्य साकेतवासिनः' इत्यादि जो कहा है यहाँ भी गुरु को देने वाली दक्षिणा से अधिक सोना लेना स्वीकार न करने वाले कौत्स की तथा माँगे हुए धन से सौगुना अथवा सहस्र गुना देने वाले रघु की (क्रमशः) असीम निःस्पृहता (कौत्स की) और असीम उदारता (रघु की) की सम्पत्ति ने (अयोध्यावासियों का आश्रय लेकर अर्थात्) अयोध्यावासियों के हृदय में कुछ अलौकिक आनन्द को प्रकाशित कर दिया है। जैसा कि स्वयं कुंतक की व्याख्या से स्पष्ट है, उक्त घटना के सौन्दर्य का रहस्य रघु की असीम उदारता और कौत्स की असीम निस्पृहता की परस्पर-स्पर्धा में निहित है ।

कुंतक ने विषयवस्तु के सौन्दर्य का, जिसे सेंटायना ने साहचर्यात्मक सौन्दर्य की संज्ञा दी है, वस्तु-वक्रता के अंतर्गत अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है । कुंतक के मत से कथावस्तु अर्थात् वर्ण्य विषय दो प्रकार का होता है : सहज और आहार्य ।

सहज : सहज का अर्थ है स्वाभाविक अथवा प्रकृत—कवि अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा प्रकृत वस्तुओं का सजीव चित्रण कर सहृदय को आह्लाद प्रदान करता है । परन्तु ये प्रकृत वस्तुएँ भी उत्कर्षयुक्त और स्वभाव से सुन्दर होनी चाहिए । इसका अर्थ यह है कि इनके स्वाभाविक धर्म प्रकृतया रमणीय होने चाहिए :

यस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तं वर्णनीयं वस्तु परिग्रहणीयम् ।

(हिन्दी व० जी० ३।१ वृत्ति)

प्रत्येक वस्तु के कुछ स्वाभाविक धर्म या सहजात विशेषताएँ होती हैं—कवि को ऐसी ही वस्तुओं का वर्णन करना चाहिए जिनके स्वाभाविक धर्म उत्कर्षयुक्त एवं रमणीय हों। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ वस्तुएँ अथवा विषय ऐसे होते हैं जिनका प्रकृत रूप ही मन में उल्लास भर देता है। कुंतक ने वय:सन्धि, ऋतु-संधि, आदि के उदाहरण देकर यह निर्देश किया है कि नारी-अंगों का सौन्दर्य, तथा प्रकृति की रंगोज्ज्वल छटा अपने स्वाभाविक रूप में ही रमणीय होती है। इस प्रकार के पदार्थ काव्य के मुख्य विषय हैं। सुकुमार-स्वभाव कवि अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा इन पदार्थों का चयन और उनकी रमणीय विशेषताओं का उद्घाटन करने में समर्थ होता है। अतएव हैं ये भी कवि-कौशल के आश्रित—स्वभाव-रमणीय पदार्थों का भी रमणीय वर्णन कवि-कौशल का ही प्रसाद है। स्पष्ट शब्दों में कुन्तक का यह मत है कि मूलतः तो काव्य-वस्तु का सौन्दर्य कविकौशल-जन्य ही होता है, परन्तु फिर भी ऐसे पदार्थ जो स्वभाव से रमणीय और आह्लादकारी हैं सुकुमार-स्वभाव कवियों के लिए अधिक उपयुक्त काव्य-विषय हैं। यहाँ, बहुत कुछ भावगत दृष्टिकोण रखते हुए भी कुन्तक अंत में रमणीय काव्य-विषय को प्राथमिकता दे देते हैं।

आहार्य : आहार्य का अर्थ है निपुणता तथा शिक्षाभ्यास आदि द्वारा सम्पादित। यह रूप सहज वस्तु से भिन्न है क्योंकि सहज वस्तु जहाँ प्रधान रूप से प्रकृत और स्वाभाविक होती है—उसके धर्म सहजात होते हैं, वहाँ आहार्य वस्तु कवि-कौशल-जन्य, दूसरे शब्दों में, उत्पाद्य होती है—आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में उसे 'कल्पित' कहेंगे। आहार्य वस्तु के विषय में अपने आशय को और स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि आहार्य वस्तु भी कोई एकान्त काल्पनिक वस्तु नहीं होती।—वह सत्ता मात्र से प्रतिभासित रहती है : कवि अपने कौशल के द्वारा उसमें कुछ अलौकिक शोभातिशय की उद्भावना या आधान कर देता है जिससे उसका सत्ता-मात्र से प्रतीत होने वाला मूलरूप आच्छादित हो जाता है और वह लोकोत्तर सौन्दर्य से सम्पन्न एक नया ही रूप धारण कर लेती है।

कुन्तक का अभिप्राय स्पष्ट शब्दों में यह है : आहार्य वस्तु का अर्थ यह नहीं है कि उसका कोई वास्तविक अस्तित्व होता ही नहीं और स्वर्णलूता की तरह कवि अपनी कल्पना में से उसे उद्गीर्ण कर रख देता है। आहार्य वस्तु का भी अस्तित्व निश्चय ही होता है—परन्तु वह सामान्यतः सत्ता मात्र से प्रतिभासित रहता है अर्थात् उसकी सत्ता तो रहती है किन्तु उसमें कोई आकर्षण नहीं रहता। कवि उसके अनेक धर्मों में से कतिपय विशिष्ट धर्मों को अतिरंजित कर इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वास्तविक रूप छिप जाता है और एक

नवीन लोकोत्तर रूप प्राप्त हो जाता है—लोकोत्तर इसलिए कि विशेष धर्मों की अतिरंजना के कारण उसका रूप सामान्य वस्तुओं से भिन्न हो जाता है। यही वस्तु का आहार्य रूप है—इसी रूप में वह सहज न होकर उत्पाद्य या कल्पित होती है। परन्तु यह 'उत्पादन' या 'आहरण' निरंकुश नहीं हो सकता—अपने आहार्य रूप में भी वह स्वाभाविक होना चाहिए, कौतुक मात्र नहीं।

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मात् निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥१,१२॥

अर्थात् स्वभाव के बिना वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु तुच्छ असत्कल्प हो जाती है।

आगे चलकर वर्णनीय वस्तु के कुछ और भेद किये हैं :

भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम्।
चेतनानां जडानां च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम् ॥३.५.॥

अपरिम्लान अर्थात् चिरनवीन स्वभाव तथा औचित्य से सुन्दर पदार्थ (वर्ण्य वस्तु) दो प्रकार के होते हैं—चेतन और अचेतन। इनमें चेतन विषय के दो भेद हैं—१. प्रधान अर्थात् देवता, मनुष्य आदि उच्चयोनि के प्राणी और अप्रधान अर्थात् सिंहादि तिर्यक् योनि के प्राणी। इस प्रकार देव तथा मानव-जीवन काव्य का मुख्य विषय है और (२) इतर प्राणिजगत् गौण विषय है। पशु-पक्षी—सिंह आदि तिर्यक् योनि के जीवों के वर्णन में जाति-स्वभाव प्रमाण है : प्रत्येक जीव का अपना-अपना जाति-स्वभाव होता है—कुशल कवि सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर यथावत् चित्रण करता हुआ अपने वर्णन को सहृदय के लिए आह्लादकारी बना देता है। अचेतन के अन्तर्गत प्राकृतिक पदार्थों तथा दृश्यों का वर्णन आता है। काव्य-परम्परा के अनुसार कुन्तक ने इन्हें रस के उद्दीपन माना है,[1] परन्तु फिर भी इनके सहज सौन्दर्य के प्रति वे उदासीन नहीं हैं, उनकी स्वाभाविक शोभा का कुन्तक ने अत्यन्त उच्छ्वासपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है। इस प्रकार सामान्य रूप से काव्य-वस्तु के दो भेद हैं—१. स्वभाव-प्रधान और २. रस-प्रधान : **तदेवं विधं स्वभाव-प्रधान्येन, रस-प्राधान्येन द्विप्रकारं।**[2] इन रूपों के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के उपाय भी काव्य के वर्ण्य विषयों के अन्तर्गत आते हैं :

१. हिन्दी व० जीवित ३।८ वृत्ति।
२. हिन्दी व० जीवित ३।१० वृत्ति।

धर्मादिसाधनोपाय परिस्पन्दनिबंधनम् ।
व्यवहारोचितं चान्यल्लभते वर्णनीयताम् ।।३।१०।।

अर्थात् धर्म आदि पुरुषार्थों की सिद्धि का उपाय होने के कारण व्यवहारयोग्य अन्य पदार्थ भी कवियों की वर्णना का विषय बन जाता है। इन उपायों से तात्पर्य उन सभी मानव-व्यापारों तथा अन्य प्राणियों के भी क्रिया-कलाप से है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अनुष्ठान में उपदेश-परक रूप से सहायक होते हैं। आधुनिक शब्दावली में इन्हें नैतिक व्यापार कहेंगे : कुन्तक ने इस प्रसंग में कादम्बरी इत्यादि में वर्णित शूद्रक आदि राजाओं तथा शुकनास आदि मंत्रियों के चरित्रों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त वस्तु-विवेचन के अनुसार वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य-वस्तु के तीन प्रकार हैं : १. स्वभाव-प्रधान, २. रस-प्रधान और ३. नीति-प्रधान। जो पदार्थ अपनी सहज शोभा के कारण वर्णनीय होते हैं वे स्वभाव-प्रधान वस्तु के अन्तर्गत आते हैं; मानव-हृदय की वृत्तियों का वर्णन मूलतः दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आता है; और, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष नीति-वर्णन तीसरे वर्ग में आता है।

इस प्रकार कुन्तक ने वस्तु का विभाग दो दृष्टियों से किया है—१. कवि की दृष्टि से, २. सहृदय की दृष्टि से। सहज और आहार्य भेदों का आधार कवि की सर्जना है, और स्वभाव-प्रधान, रस-प्रधान तथा नीति-प्रधान का आधार सहृदय की ग्रहण-प्रतिक्रिया है : पहले रूप से सहृदय प्रत्यभिज्ञान का आनन्द ग्रहण करता है, दूसरे से रस और तीसरे से उपदेश तथा सद्ज्ञान : पहले विभाग का आधार है—कवि जैसा उसे प्रस्तुत करता है। दूसरे विभाग का आधार है—पाठक जैसा उसे ग्रहण करता है।

उपर्युक्त मंतव्य का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कुंतक के अनुसार वस्तु-सौन्दर्य के आधार-तत्त्व हैं—१. स्वभाव, २. औचित्य, ३. नवीनता या वैचित्र्य, ४. आह्लादकता और ५. धर्मादिसाधनोपायता—अर्थात् महत्तर जीवन-मूल्यों की सिद्धि में योगदान करने की क्षमता। इनमें से स्वभाव और औचित्य अर्थात् यथायोग्य स्वभाव-वर्णन 'सत्य' का वाचक है, धर्मादिसाधनोपायता' 'हितं' का और नवीनता तथा आह्लादकता 'प्रियं' के वाचक हैं। इस प्रकार, वस्तु-सौन्दर्य के आधार-तत्त्व हैं : सत्यं, हितं, प्रियं—और ये ही उसके मूल्यांकन के प्रतिमान भी हैं।

कुंतक की सौन्दर्य-दृष्टि काव्य तक ही सीमित न रहकर अन्य ललित-कलाओं तक व्याप्त थी। वे इस रहस्य से सर्वथा परिचित थे कि सभी कलाओं की आत्मा एक ही है : सौन्दर्य। अतः उन्होंने प्रस्तुत प्रसंग में काव्य के साथ चित्रकला का भी स्पष्ट उल्लेख किया है : **तस्मादेव च तथाविधस्वरू-**

पोल्लेखप्राधान्येन काव्य-काव्योपकरण-कवीनां चित्र-चित्रोपकरण-चित्रकरैः साम्यं प्रथममेव प्रतिपादितम्—अतएव उस सुन्दर स्वरूप के उल्लेख की प्रधानता से, अर्थात् दोनों में सौन्दर्य का वर्णन ही प्रधान होता है, इसलिए—काव्य, काव्य के उपकरणऔर कवि का चित्र, चित्र के उपकरण तथा चित्रकार के साथ साम्य का निरूपण पहले ही कर चुके हैं। (हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित ३. १० (वृत्ति) पृ० ३३६)।

अंत में, जैसा कि हमने आरंभ में ही कहा है, इस तथ्य को एक बार फिर रेखांकित कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त स्तर-भेद केवल व्यवहार-दृष्टि से, विवेचन-विश्लेषण के धरातल पर ही, ग्राह्य है। पारमार्थिक दृष्टि से, सौन्दर्य एक अखण्ड तत्त्व अथवा अखण्ड प्रतीति है जिसमें भौतिक उपादान, रूप या शिल्प तथा विषयवस्तु की सत्ता पृथक् न रहकर पूर्णतः समेकित रहती है। अतः इन तीन तत्त्वों की मूल्यवत्ता भी मूलतः समेकित ही होती है: स्तर-भेद केवल उसी सीमा तक मान्य है जिस सीमा तक कि तत्त्व-भेद, अर्थात् केवल समीक्षा के धरातल पर—आस्वाद या अनुभूति के धरातल पर नहीं। विश्लेषण के धरातल पर—भौतिक उपादान का अस्तित्व और मूल्य स्वगत अर्थात् शुद्ध भौतिक या पदार्थगत भी है—जैसा वह अपने आप में है, और प्रमातृगत या प्रातीतिक भी—जैसा वह प्रमाता को प्रतीत होता है। रूपाकार या शिल्प का अस्तित्व तथा मूल्य स्वगत अर्थात् प्राविधिक भी है और प्रातीतिक भी। इसी प्रकार विषय-वस्तु या कथ्य (भाव-विचार) का मूल्य स्वगत यानी रागात्मक-बौद्धिक भी है और सुखात्मक एवं नैतिक भी। किन्तु पारमार्थिक रूप में, आस्वाद के धरातल पर ये तीनों पूर्णतः अन्योन्याश्रित हो जाते हैं। भौतिक उपादान के स्वगत मूल्य की भी मूल्यवत्ता रूपाकृति की निर्मिति तथा उसके प्रेरक अभिप्राय को संप्रेषित करने की क्षमता में, रचना-शिल्प के स्वगत-प्राविधिक मूल्य की मूल्यवत्ता एक ओर भौतिक उपादानों के उपयोग और दूसरी ओर मूल अभिप्राय को अभिव्यक्त करने की कुशलता में—और कथ्य के स्वगत मूल्य की मूल्यवत्ता भौतिक उपादान तथा रचना-शिल्प में रूपायित होने की योग्यता में अंतर्भूत हो जाती है। नटराज की प्रतिमा में प्रयुक्त वज्रधातु का सही मूल्य यह है कि ताण्डव-मुद्रा की रूपरचना तथा सृष्टि संहार की ऊर्जा की अभिव्यक्ति के लिए अन्य उपकरणों की अपेक्षा वह अधिक अनुकूल है। नटराज की मूर्ति की सौन्दर्य-सृष्टि का भौतिक आधार न तो मृत्तिका या शिला हो सकती थी और न स्वर्ण ही। ताण्डव-मुद्रा की मूल्यवत्ता एक ओर वज्रधातु के साथ सम्बद्ध है और दूसरी ओर सृजन-संहार की ऊर्जा के साथ।—और सृजन-संहार की यह जैविक ऊर्जा केवल ताण्डव-मुद्रा और वज्र-धातु के माध्यम से ही रूपायित हो सकती थी, यह भी निर्विवाद है। इस

प्रकार, जैसे कलाकृति के तीनों तत्त्व अन्ततः परस्पर समन्वित होकर 'सौन्दर्य पदार्थ' की सृष्टि करते हैं, वैसे ही इनके स्वगत मूल्य भी परस्पर समेकित होकर 'सौन्दर्य-मूल्य' की सिद्धि करते हैं।—सौन्दर्य या कला के पारमार्थिक रूप के परिज्ञान के लिए तात्त्विक तथा व्यावहारिक धरातल का यह भेद स्पष्ट हो जाना चाहिए।

□ □

अध्याय : सात

सौन्दर्य-मूल्य तथा अन्य जीवन-मूल्य

मूल्य शब्द पदार्थ के आंतरिक गुण का वाचक है जिसके कारण लोक-जीवन में उसका महत्त्व या मान होता है—क़द्र होती है। इसीलिए उर्दू में मूल्य के पर्याय रूप में 'क़द्र' शब्द का प्रयोग होता है। मनुष्य के कर्म अथवा भोग के फलितार्थ रूप में जिसका महत्त्व या मान होता है, सामान्यत: उसे ही मूल्य कहते हैं। इसमें क्षमता अथवा आंतरिक गुण के मानक (स्टैंडर्ड) की धारणा निहित रहती है : मूल्य केवल गुण नहीं है—मानक गुण है। इस प्रकार मूल्य का मानक या प्रतिमान के साथ सहज सम्बन्ध है। इसका मूल सम्बन्ध अर्थ-शास्त्र से है जहाँ मूल्य का अर्थ होता है विनिमय-क्षमता : जिस पदार्थ के विनिमय के द्वारा जीवन के आवश्यक उपादानों को उपलब्ध करने की जितनी सम्भावना अधिक होती है, उसका उतना ही मूल्य होता है। अर्थशास्त्र में मूल्य के निर्णायक तत्त्व हैं, आवश्यकता और दुर्लभता यानी किसी पदार्थ का मूल्य दो बातों पर निर्भर करता है : उसकी जीवन में कितनी आवश्यकता है और उसकी उपलब्धि कितनी कठिन या यत्नसाध्य है। सुलभ हो जाने पर आवश्यक से आवश्यक वस्तु का मूल्य कम हो जाता है और उधर आवश्यकता न रहने पर दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु की मूल्यवत्ता घट जाती है।[1]

इन्हीं दोनों निर्णायक तत्त्वों के साथ मूल्य शब्द अर्थशास्त्र से दर्शन, नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में पहुँच गया। प्लेटो ने मूल्य को श्रेयस् अथवा शिव-तत्त्व का पर्याय माना और उसे विश्व-प्रपंच का रचनात्मक सिद्धांत तथा विधि-विधान का मूल आधार घोषित किया। अरस्तू ने प्रयोजन अथवा

१. दि एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना खण्ड २७ (१९५६)—प्रोफ़ेसर टी० एन० केवर।

सार्थकता के साथ मूल्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे उद्देश्य-साधन की क्षमता का प्रतीक माना। कांट ने मूल्य-परक निर्णय और सिद्धांत-परक निर्णय में भेद करते हुए मूल्य की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा की। आत्मवादी दार्शनिकों के अनुसार मूल्य वस्तु-स्थिति का सूचक न होकर आदर्श स्थिति का द्योतक है और उसका निर्धारण सहजानुभूति के द्वारा ही संभव है। प्राकृतिक दर्शन एवं मनोविज्ञान ने इस रहस्यमयी अवधारणा का विरोध करते हुए मूल्य को भावना अर्थात् इच्छा, रुचि, परितोष आदि का विषय माना : मूल्य का निर्णय प्रमाता की इच्छा, रुचि अर्थात् परितोष की भावना के द्वारा ही होता है। जो पदार्थ प्रमाता की इच्छा या रुचि के जितना अनुरूप है, अथवा उसकी चेतना का जितना परितोष करता है, उतना ही उसका मूल्य है। १९वीं शती के जर्मन दार्शनिक एरेनफ़ेल्स ने इच्छा को मूल्य का आधार माना और उनके सम-सामयिक माइनांग ने भावना को। एरेनफ़ेल्स के अनुसार किसी पदार्थ का मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि प्रमाता के मन में उसकी कितनी स्पृहा है? माइनांग के मत से किसी पदार्थ से प्राप्त सुख की आशा या संभावना उसके मूल्य का आधार है। पैरी ने स्पृहा और सुख के स्थान पर रुचि पर बल दिया : पदार्थ-विशेष के प्रति हमारी रुचि ही उसके मूल्य की निर्णायक है। ये सभी दार्शनिक मूल्य की भावपरक व्याख्या करते हुए भी उसे पदार्थ का ही गुण मानते हैं। पैरी ने अपने मत के पोषण में स्पिनोज़ा का उद्धरण दिया। स्पिनोज़ा ने मूल्य के भावगम्य स्वरूप को और अधिक रेखांकित करते हुए लिखा है : हम किसी वस्तु के लिए प्रयत्न या कामना इसलिए नहीं करते हैं कि हम उसे श्रेष्ठ (मूल्यवान्) मानते हैं वरन् इसके विपरीत हम किसी वस्तु को इसलिए श्रेष्ठ (मूल्यवान्) मानते हैं कि हम उसकी कामना करते हैं—उसके लिए प्रयत्न करते हैं।[1] अमरीकी दार्शनिक अर्बन ने इन धारणाओं को बौद्धिक आधार प्रदान करते हुए उपर्युक्त तत्त्वों—भाव (प्रीति) और इच्छा के साथ अर्थ और विवेक[2] को अनुबद्ध कर दिया और मूल्य को प्रीति—इच्छा-मूलक अर्थों की संहति[3] के रूप में परिभाषित किया। मूल्य में प्रीति या आह्लाद तथा कामना की अवस्थिति पर्याप्त नहीं है : इन तत्त्वों के पीछे विवेक और सार्थकता का आधार होना आवश्यक है। अर्थात् प्रत्येक सुख या इच्छा की पूर्ति मूल्यवान् नहीं होती—वही सुख या कामना-पूर्ति मूल्यवान् होती है जो

१. एथिक्स भाग ३, ९ अनुवादक ऐल्व्स

२. जजमेंट

३. फ़न्डेड एफ़ेक्टिव—वोलिशनल मीनिंग्स

विवेकसम्मत और सार्थक हो। बोसाँके तथा हीगेल के अन्य अनुयायी दार्शनिक समन्विति[1] को मूल्य का सार्वभौम सिद्धान्त मानते हैं : वैयक्तिक-सामाजिक, आध्यात्मिक-भौतिक, कलात्मक-वैज्ञानिक—प्रत्येक स्तर पर अन्विति में ही मूल्य का सारतत्त्व निहित रहता है। ड्यूई ने मूल्य की प्रकल्पना में एक नया आयाम जोड़ा—स्थिति। ड्यूई के विचार से मूल्य की समस्या का क्षेत्र है स्थिति—अथवा और सही शब्दों में कहें तो—सामाजिक स्थिति के साथ परिवेश, जन-समूह या एक प्रकार से पूरा समाज सम्पृक्त रहता है। मूल्य की समस्या तब उठती है जब स्थिति के अन्तर्गत विरोध उत्पन्न हो जाता है। यह विरोध अशुभ है और परस्पर-विरोधी हितों के परितोष द्वारा स्थिति में सामरस्य की पुनःस्थापना शुभ है अर्थात् मूल्यवान् है। इस प्रकार ड्यूई ने व्यवहारवादी दृष्टि से, सामाजिक स्तर पर समाकलन की क्षमता को मूल्य के रूप में स्थापित किया।—उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में मूल्य का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है : मूल्य उस गुण या गुण-समवाय का नाम है जो किसी पदार्थ की, अपने लिए, प्रमाता के लिए अथवा अपने परिवेश के लिए, सार्थकता का निर्धारण करता है। पदार्थ का गुण होने के कारण मूल्य की सत्ता वस्तुपरक है किन्तु प्रमातृसापेक्ष होने के कारण वह व्यक्तिपरक है।

मूल्य के निकटवर्ती कुछ अन्य प्रत्यय हैं जिनका सापेक्षिक अर्थ-विश्लेषण मूल्य के स्वरूप-निर्धारण में सहायक हो सकता है। ये शब्द हैं—आदर्श, मानक और सिद्धान्त जो मूल्य के बहुवचन अर्थात् मूल्यों के संदर्भ में कभी-कभी व्यापक रूप से प्रयुक्त किए जाते हैं। मानक का प्रयोग दो अर्थों में होता है : साधन-रूप में और सिद्ध रूप में। साधन रूप में वह मूल्यांकन का प्रतिमान है और सिद्ध रूप में वह मूल्य के स्तर का वाचक है जिसका निर्धारण पदार्थ के आंतरिक तत्त्वों और उपयोगिता अथवा अभीष्टता की मात्रा आदि के आधार पर किया जाता है। मानक में जहाँ एक स्थिर मात्रा का भाव है, वहाँ आदर्श में चरमता का भाव निहित है। मानक सिद्ध है और आदर्श साध्य। सिद्धान्त का अर्थ है मूलवर्ती धारणा जो मूल्य का नियमन करती है। भाववाचक संज्ञा के रूप में बहुवचन में—ये धारणाएँ प्रायः मिल जाती हैं। उदाहरण के लिए नैतिक मूल्य, नैतिक मानदण्ड, नैतिक आदर्श और नैतिक सिद्धान्त के बीच व्यवहार-दृष्टि से भेद करना कठिन हो जाता है, यद्यपि तत्त्व-दृष्टि से यहाँ भी भेदक रेखाएँ खींची जा सकती हैं। भारतीय वाङ्मय में कुछ शब्द और हैं जैसे प्रयोजन, सिद्धि आदि जो अपने फलितार्थ में मूल्यों के साथ मिल जाते हैं। काव्यशास्त्र में इनका प्रयोग अधिक हुआ है। प्रयोजन

१. कोहरेन्स

किसी क्रिया या पदार्थ का प्रेरक उद्देश्य है जो सिद्ध होकर उसकी सार्थकता का आधार यानी मूल्य बन जाता है। उदाहरण के लिए, प्रीति काव्य का प्रयोजन है, सिद्ध होकर वही फल बन जाता है और काव्य की मूल्यवत्ता का आधार भी। तत्त्व-दृष्टि से यहाँ भी भेद है, परन्तु व्यवहार में ये प्रायः मिल जाते हैं। इसीलिए काव्य-मूल्यों के प्रसंग में, विवेचन के लिए, प्रयोजन, सिद्धि, फल आदि को आधार मानकर चलना एक प्रकार से अनिवार्य हो जाता है।

मूल्यों के प्रकार : मूल्य के प्राथमिक भेद दो हैं : आन्तरिक[1] मूल्य और सहायक[2] मूल्य। आन्तरिक मूल्य से अभिप्राय है ऐसे तत्त्व का जिसका उपभोग, वाञ्छा, प्रशंसा, मान-महत्ता आदि उसके अपने लिए की जाती है। सहायक मूल्य, आन्तरिक मूल्य के साधक तत्त्व हैं : उदाहरण के लिए, व्यवस्था सहायक मूल्य है और शान्ति आन्तरिक मूल्य। (इसी आधार पर आंतरिक मूल्य को स्थायी, उदार अथवा उच्चतर मूल्य और सहायक मूल्य को अस्थायी, ऐकांतिक या निम्नतर मूल्य भी कहा जाता है।) इस प्राथमिक वर्ग-विभाजन के अतिरिक्त दार्शनिकों ने मूल्यों के अन्य प्रकारों की भी कल्पना की है—जिनमें प्रमुख हैं सुखवादी, भाववादी, बुद्धिवादी या प्रज्ञात्मक, सहज या सहजानुभूतिपरक, संश्लिष्ट मूल्य आदि।

ऐवरेट[3] ने उपर्युक्त दोनों वर्गों को मिलाकर मूल्यों का इस प्रकार विभाजन किया है।

निम्नतर मूल्य :

मनोरंजनपरक (क्रीड़ा-आमोद आदि)
शारीरिक (स्वास्थ्य)
सामाजिक (साहचर्य, संघ, संस्था)
श्रममूलक (आर्थिक तथा अन्य)

उच्चतर मूल्य :

बौद्धिक (ज्ञान, सत्य)
सौन्दर्यमूलक (कला)
चारित्र्य (भद्रता, अच्छाई)
धार्मिक (पुण्य)

१. इंट्रिंजिक।
२. इन्स्ट्रूमेंटल।
३. मॉरल वैल्यूज़ २६२८ डब्ल्यू० जी० एवरेट।

स्पष्टतः यह वर्गीकरण निर्दोष नहीं है। क्रीड़ा-आमोद, स्वास्थ्य, वित्त आदि निश्चय ही ज्ञान, सौन्दर्य, साधुत्व, पुण्य आदि की अपेक्षा हीनतर मूल्य हैं: वे शाश्वत मूल्य नहीं हैं, प्राथमिक न होकर गौण हैं। साहचर्य अथवा उस पर आश्रित संघ-व्यवस्था या प्रशासन आदि भी गौण मूल्य ही हैं। किन्तु सामाजिक मूल्यों की इयत्ता यहीं तक नहीं है। सामाजिक चेतना अर्थात् सामाजिक न्याय एवं कल्याण की भावना, व्यक्ति-हित से महत्तर समष्टि-हित की भावना निम्न वर्ग में नहीं आती: वह निश्चय ही उच्चतर मूल्य है।

मूल्यों का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। सामान्य रूप से मानव-जीवन के दो व्यापक मूल्य हैं—आनन्द और कल्याण। आनन्द में 'आत्मनः कामाय' की भावना निहित है और कल्याण में हित की कामना जो स्व की सीमा को पार कर 'सर्व' पर जाकर स्थित होती है क्योंकि सर्वहित के व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही स्वहित की सिद्धि सम्भव है। इन्हीं दो मौलिक प्रवृत्तियों के आधार पर आनन्दवादी और कल्याणवादी मूल्यों का विकास हुआ है। आनन्दवादी मूल्यों के, आनन्द के स्तर-भेद से, अनेक भेद हो जाते हैं। इनमें सर्वोच्च स्थिति है आत्मानन्द की—आस्तिक दर्शन के अनुसार यह आत्मानन्द ही चरम मूल्य है—अन्य समस्त मूल्य इसी के साधन रूप हैं। आत्मानन्द पर आश्रित मूल्य व्यवहार-भाषा में आध्यात्मिक मूल्य कहलाते हैं। आनन्द की दूसरी कोटि है लौकिक आनन्द अथवा विषयानन्द। इसमें एक ओर शारीरिक आनन्द—स्वास्थ्य तथा ऐन्द्रिय सुख और दूसरी ओर मानसिक आनन्द अर्थात् इच्छापूर्ति-जन्य आनन्द अन्तर्भुक्त हैं। स्वास्थ्य तथा ऐन्द्रिय सुख का मूल्य मानव-जीवन में असंदिग्ध है; किन्तु वह अचिर है। स्वास्थ्य विधाता का वरदान है, इससे कौन इनकार कर सकता है?—'पहला सुख निरोगी काया।' किन्तु वह साधनभूत है—जीवन का विविध प्रकार से उपभोग करने का साधन है, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। इसलिए शारीरिक आनन्द निम्नकोटि का आनन्द माना गया है। इच्छापूर्ति आनन्द का मूल आधार है, परन्तु इच्छापूर्ति-जन्य मानसिक आनन्द भी अचिर है, एक इच्छा की पूर्ति दूसरी इच्छा को जन्म देती रहती है जिसका परिणाम होता है चिर-अतृप्ति जो आनन्द की सबसे बड़ी बाधा है। इस बाधा को दूर करने के लिए इच्छा के साथ सत् विशेषण लगाना आवश्यक हो गया है: सदिच्छा या उचित अर्थात् देश-काल के अनुकूल इच्छा की पूर्ति ही वास्तविक आनन्द है। प्रस्तुत सन्दर्भ में उचित के दो अर्थ होते हैं: १. विवेक द्वारा अनुशासित, और २. चित्तवृत्तियों के विधान या व्यापक तंत्र के साथ संगत। आनन्द की सिद्धि ऐसी ही इच्छा की पूर्ति के द्वारा संभव होती है जो विवेक-सम्मत है और चित्तवृत्तियों के समीकरण में योग देती है। इस अनुबंध के अनुसार

प्रत्येक इच्छा की तात्कालिक पूर्ति की अपेक्षा इच्छाओं का समाकलन अथवा समाकलित चित्तवृत्तियों का परितोष अधिक काम्य होता है—अर्थात् तज्जन्य आनन्द अधिक स्थायी या उत्कृष्ट होता है। मानसिक आनन्द की एक और उच्चतर कोटि है और वह है इच्छा या भाव के उन्नयन से प्राप्त आनन्द। भाव के उन्नयन अथवा संस्कार का अर्थ है उसे व्यक्तिगत अहंकार से आविष्ट आलम्बन से हटाकर किसी महत्तर आलम्बन के प्रति निवेदित करना। इस साधना का फलितार्थ भी अंततः प्रीतिकर ही होता है और यह प्रीति या आनन्द अधिक उदात्त एवं अवदात होता है। आनन्दवादी मूल्यों के अंतर्गत ही बौद्धिक मूल्यों की भी गणना की जा सकती है। बौद्धिक मूल्यों का लक्ष्य है ज्ञान अथवा सत्य। सत्य की शोध या ज्ञान की प्राप्ति निश्चय ही एक प्रकार के आनन्द का उद्रेक करती है जो रागात्मक अथवा इच्छापूर्ति के आनन्द से भिन्न होता है। दर्शन तथा विज्ञान आदि के क्षेत्र में ज्ञानमार्ग के पथिक इसी आनन्द का आस्वाद करते हैं।

कल्याणवादी मूल्यों का आधार है श्रेय।—श्रेय अथवा कल्याण की अवधारणाओं के अनुसार कल्याणवादी मूल्यों के अनेक भेद मिलते हैं। कल्याण का एक रूढ़ और सीधा अर्थ नैतिक या धर्मपरक है: **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः**—धर्म वह है जिसके द्वारा मानव का पार्थिव तथा पारमार्थिक कल्याण हो। इस धारणा की परिणति नैतिक मूल्यों में होती है। कल्याण का दूसरा अर्थ है भौतिक उत्कर्ष। आर्थिक-सामाजिक मूल्य इसी के फलितार्थ हैं। इनके अतिरिक्त कल्याण के दो अन्य अर्थ भी हैं—एक सांस्कृतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक। सांस्कृतिक अर्थ भी नैतिक मूल्यों पर आधृत है, पर ये नैतिक मूल्य व्यावहारिक उपयोगिता अथवा हित तक सीमित न रहकर चेतना के परिष्कार तथा व्यक्तित्व की समृद्धि पर अधिक बल देते हैं। वृत्तियों के संयमन और दमन की अपेक्षा सांस्कृतिक मूल्यों का लक्ष्य उन्नयन एवं संस्कार पर ही केन्द्रित रहता है और विधि-निषेध की अपेक्षा सहज अभिव्यक्ति एवं विकास में उनकी अधिक आस्था है। मनोवैज्ञानिक संदर्भ में श्रेय का अर्थ है अंतर्वृत्तियों का समीकरण। जिस पदार्थ में अधिक-से-अधिक अंतर्वृत्तियों का अधिक-से-अधिक संग्रह करने की जितनी क्षमता है वह उतना ही श्रेयस्कर एवं मूल्यवान् है। ये मनोवैज्ञानिक मूल्य आनन्दोन्मुख होने पर रागात्मक मूल्यों में और कल्याणोन्मुख होने पर सांस्कृतिक मूल्यों में निमग्न हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

आनन्दवादी मूल्य—

आध्यात्मिक
सौन्दर्यमूलक
बौद्धिक
रागात्मक
शारीरिक

कल्याणवादी मूल्य—

सांस्कृतिक
नैतिक
आर्थिक-सामाजिक

सौन्दर्य तथा इतर मूल्यों का भेद

जैसा कि हम यथा-प्रसंग स्पष्ट कर चुके हैं, सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य प्रमुख मूल्य हैं—समष्टि के स्तर पर : सांस्कृतिक, धार्मिक-नैतिक, आर्थिक-सामाजिक, और व्यष्टि के स्तर पर : आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा रागात्मक। पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्रियों के अनुसार सौन्दर्य तथा अन्य मूल्यों का एक अंतर तो यह है कि अन्य मूल्य जहाँ फल-सापेक्ष होते हैं, वहाँ सौन्दर्य फल-निरपेक्ष, स्वार्थ-बुद्धि से सर्वथा निर्लिप्त होता है; दूसरे, सौन्दर्य-चेतना रागद्वेष से मुक्त, निर्वैयक्तिक एवं सार्वभौम होती है। आनन्द अथवा प्रीति सौन्दर्य का लक्षण है, फल या प्रयोजन नहीं।

उपर्युक्त मूल्यों में, सांस्कृतिक मूल्य सौन्दर्य से अवच्छिन्न रहते हैं—इसीलिए कलाओं का अन्तर्भाव संस्कृति में होता आया है। अतः सौन्दर्य और सांस्कृतिक मूल्यों का अन्तर अधिक प्रखर नहीं है। नैतिक मूल्यों में लौकिक कल्याण और धार्मिक मूल्यों में आमुष्मिक कल्याण की भावना प्रमुख रहती है, किन्तु सौन्दर्य का लक्षण है प्रीति। नैतिक मूल्यों में जहाँ उचित-अनुचित का ज्ञान प्रमुख रहता है, वह सौन्दर्य में चेतना के परिष्कार—अभिनव के शब्दों में मनोमुकुर की निर्मलता—का प्राधान्य रहता है। सामाजिक मूल्य और नैतिक मूल्य का अंतर और भी सूक्ष्म है। एक सीमा तक ये दोनों साथ-साथ चलते हैं—अर्थात् दोनों में व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि के योगक्षेम की भावना प्रमुख रहती है—और सही शब्दों में, दोनों व्यष्टि के योगक्षेम को समष्टि के योगक्षेम में ही अंतर्भुक्त मानते हैं, मनोविज्ञान की शब्दावली में, दोनों के लिए अहं भावना का सामाजीकरण आवश्यक है। किन्तु इसके आगे विभाजक रेखा आरम्भ हो जाती है। नैतिक मूल्यों के लिए आस्तिकता—अर्थात् किसी लोकोत्तर पूर्ण सत्ता में विश्वास आवश्यक है।—वह

इसलिए कि, अन्यथा, उचित-अनुचित की धारणा सदा परिस्थिति-सापेक्ष बनी रहेगी और कर्त्तव्य का निर्णय अत्यन्त कठिन हो जाएगा, क्योंकि परिस्थिति के अनुसार निरंतर परिवर्तनशील होने के कारण उसका कोई स्थिर मानदण्ड नहीं रह जाएगा। इसीलिए नैतिक मूल्य धार्मिक मूल्यों से जुड़ जाते हैं। पूर्वार्ध में, जहाँ तक ऐहिक योगक्षेम की सीमा रहती है, नैतिक मूल्यों का सामाजिक मूल्यों के साथ प्रायः तादात्म्य रहता है; किन्तु आगे चलकर, जब मानव चेतना ऐहिक योगक्षेम में अपर्याप्तता एवं अपूर्णता का अनुभव करने लगती है, उनका सम्बन्ध कुछ ऐसे संप्रत्ययों अथवा आदर्शों से जुड़ जाता है जो ऐहिक हिताहित की भावना से ऊपर होते हैं—जिन्हें आमुष्मिक, लोकातिक्रांत आदि शब्दों से विशेषित किया जाता है। इसलिए नैतिक मूल्य शुद्ध या ऐकान्तिक नहीं, संकर मूल्य होते हैं : अपनी पूर्वावस्था में वे सामाजिक-नैतिक रहते हैं और उत्तरावस्था में नैतिक-धार्मिक हो जाते हैं। मानव-चेतना के स्वरूप का, जिसका एक अंश मृण्मय और दूसरा चिन्मय है, यह अनिवार्य आग्रह है; इसके बिना योगक्षेम की कोई भी संकल्पना उसका परितोष नहीं कर सकती। इस विश्लेषण के पश्चात् सौन्दर्य तथा उपर्युक्त मूल्यों के भेदाभेद का निरूपण अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

सौन्दर्य और सामाजिक-नैतिक मूल्यों का अंतर अधिक स्पष्ट है—कभी-कभी दोनों में विरोध की भावना भी उग्र रूप में सामने आती रही है :

असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्।

इसका मुँहतोड़ जवाब है—**'जो समय हमने गिरजाघर में नष्ट किया है, आओ उसकी क्षतिपूर्ति मदिरालय में कर लें।'** किन्तु, यह पूर्वग्रह या अतिवाद मात्र है; तत्त्वतः सौन्दर्य और सामाजिक-नैतिक मूल्यों में विरोध न है और न हो सकता है क्योंकि दोनों में कुछ तत्त्व निश्चय ही समान हैं। सौन्दर्य का एक लक्षण है स्वार्थ से मुक्ति और सामाजिक-नैतिक चेतना का भी यह प्राथमिक लक्षण है। जिस प्रकार सौन्दर्य चेतना व्यक्तिगत रागद्वेषों से रहित होती है, उसी प्रकार नैतिक-सामाजिक चेतना भी। अहं का उन्नयन दोनों में होता है : एक में कल्पना के उद्बोध के द्वारा और दूसरे में सामाजीकरण की बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा। इसीलिए समाजवादी सौन्दर्यशास्त्र मूलतः सामाजिक चेतना में सौन्दर्य का संधान करता है और उधर काव्यशास्त्र 'कांतासम्मित उपदेश' या 'व्युत्पत्ति' को काव्य-कला का प्रयोजन मानता है। फिर भी, अन्तर तो है ही—और इस अन्तर के कुछ स्पष्ट आधार हैं : १. सौन्दर्य की प्रवृत्ति अंतर्मुख है, सामाजिक-नैतिक मूल्यों की बहिर्मुख। २. सौन्दर्य का लक्षण है प्रीति या आनन्द तथा चेतना का परिष्कार, सामाजिक-नैतिक मूल्यों का मूल-

तत्त्व है योगक्षेम। ३. सौन्दर्य-जन्य आनन्द तात्कालिक—सद्यःपरनिर्वृति रूप होता है; योगक्षेम-जन्य सुख-संतोष परवर्ती या परिणामी उपलब्धि होता है। ४. सौन्दर्य में भावना तथा कल्पना तत्त्व का प्राधान्य है, सामाजिक-नैतिक मूल्यों में कर्म का—सौन्दर्य सर्जनात्मक है, सामाजिक-नैतिक मूल्य क्रियात्मक होते हैं।

धार्मिक मूल्यों के साथ सौन्दर्य का अंतःसम्बन्ध और भी घनिष्ठ है, क्योंकि स्वार्थ से मुक्ति, चेतना का वैमल्य एवं विस्तार, इनमें और भी अधिक है। इन दोनों के अतिरिक्त, आश्रय के स्तर पर—सार्वभौम भावना (भूमा) तथा विराट् सत्ता के प्रति समर्पण या तन्मयीभाव और आलम्बन के स्तर पर—ऐसे दिव्य सौन्दर्य की कल्पना, जिसके प्रतिबिम्ब अथवा आभास मात्र से यह विश्व रमणीय हो गया है, धार्मिक मूल्यों और सौन्दर्य के बीच अत्यधिक नैकट्य स्थापित कर देती है। रस की ब्रह्मानन्दसहोदर रूप में और सौन्दर्य की रहस्यानुभूति के रूप में कल्पना का यही आधार है। इसी कारण, बाह्याचार से मुक्त, शुद्ध, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक चेतना को पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में या तो अयथार्थ प्रतीति मानकर छोड़ दिया गया है या फिर सौन्दर्यानुभूति के साथ उसका एकीकरण कर दिया गया है। किन्तु यह धारणा, एक सीमा तक ही ठीक मानी जा सकती है। रहस्यानुभूति का प्रत्येक रूप—यथा योगी या साधक द्वारा परप्रत्यक्ष सौन्दर्यविशिष्ट नहीं होता; इसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति का भी प्रत्येक रूप रहस्य-भावना से अनुप्राणित नहीं होता। भक्तिकाव्य अथवा रहस्यवादी काव्य के स्वरूप-विश्लेषण से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। विद्यापति के शृंगार-वर्णन में चैतन्य महाप्रभु ब्रह्म की लीला के चिन्मय रस का आस्वादन करते थे, किन्तु सामान्य सहृदय तो शृंगार-रस की ही अनुभूति करता है। यह सत्य है कि शृंगार की यह अनुभूति, कम-से-कम प्रक्रिया की अवस्था में, रीति-शृंगार की अनुभूति की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है, किन्तु शुद्ध भक्ति-रस की अनुभूति यह फिर भी नहीं है। स्तर-भेद तो इसमें है ही, साथ ही स्वरूप का भेद भी अविद्यमान नहीं है—'**चिद्विशिष्ट स्थायिभाव**' तथा '**स्थायवच्छिन्न चित्**' के आस्वाद का भेद यहाँ अवश्य मानना पड़ेगा : पहले में चैतन्य-बोध से परिष्कृत विशुद्ध भाव का आस्वाद है और दूसरे में भावना से संपृक्त आत्मपरामर्श का आस्वाद।

अब शेष रह जाते हैं रागात्मक तथा बौद्धिक मूल्य, जिनकी सार्थकता समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि के संदर्भ में अधिक है। इनमें से रागात्मक मूल्यों का सौन्दर्य के साथ अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध है। पश्चिम के विचारकों का बहुमत यही मानता है कि सौन्दर्य का आधार राग है; परन्तु दोनों के भेद के विषय में भी किसी को सन्देह नहीं है। सौन्दर्य और रागात्मक मूल्यों का भेद वही है जो रस और भाव का है। रस व्यक्तिगत एवं सामान्य भाव की अनुभूति न

होकर ऐसे भाव का अनुभव है जो चिन्तन तथा कल्पना की प्रक्रिया में पड़कर व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त साधारणीकृत हो गया है। अतः राग की अपेक्षा रस का स्वरूप अधिक उदात्त होता है। यही अन्तर सौन्दर्य—और प्रेम, उत्साह, आदि—रागात्मक मूल्यों के विविध रूपों के बीच रहता है। प्रेम, उत्साह आदि भावों का मूल्य उनके प्रकृत रूप में है, किन्तु उनकी सौन्दर्यमय अभिव्यक्ति का मूल्य उनके निर्वैयक्तिक एवं सार्वभौम रूप पर निर्भर करता है।—बौद्धिक मूल्य सौन्दर्य के इतने निकट नहीं हैं। सौन्दर्य में रागतत्त्व का स्पर्श प्रायः विद्यमान रहता है, जबकि बौद्धिक मूल्य शुद्ध प्रज्ञा की उपलब्धि हैं। दोनों में आनन्द-तत्त्व समान है किन्तु सौन्दर्य के आनन्द का माध्यम जहाँ चित्तवृत्ति होती है वहाँ बौद्धिक मूल्यों का आनन्द भाव-निरक्षेप होता है। सौन्दर्य में तो बुद्धि तथा कल्पना के द्वारा भाव का परिष्कार हो जाता है, पर सत्य आदि बौद्धिक मूल्यों में इतना अवकाश नहीं रहता कि भाव की ऊष्मा ज्ञान को सरस बना सके। अतएव सौन्दर्य की स्थिति रागात्मक तथा बौद्धिक मूल्यों की मध्यवर्ती है : वह एक की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म-परिष्कृत और दूसरे की अपेक्षा अधिक रमणीय अथवा हृदयग्राही होता है।

भारतीय वाङ्मय में मूल्य-विवेचन

भारतीय वाङ्मय में मूल्यों का प्रकारान्तर से उल्लेख आरम्भ से ही मिलता है और यथास्थान उपयुक्त विवेचन भी। जैसा कि डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है मूल्य का समानार्थक वैदिक शब्द है 'अर्थ' : 'उपनिषदों में मूल्य के लिए प्रयुक्त शब्द **अर्थ** है जिसका नैरुक्तिक अर्थ है प्राप्य। (कठ० १. ३. १४)।'[1] श्रीमती राइस डेविड्स ने अपने ग्रंथ 'दि बर्थ ऑफ़ इण्डियन साइकॉलॉजी' में उपर्युक्त संदर्भ में 'अर्थ' का अनुवाद 'वैल्यूज़ इन थिंग्स'—अर्थात् 'पदार्थ में निहित मूल्य' किया है।[2] यही आगे चलकर पुरुषार्थ के रूप में सामान्यतः प्रचलित हो गया। वेदों में दो शब्दों का मूल्य के रूप में प्रयोग मिलता है—ये शब्द हैं ऋत और सत्य :

ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ॥ ऋग्वेद १०. १९०.१ ॥

ऋत का अर्थ है विश्व-प्रपञ्च का अंतवर्ती सिद्धान्त जो स्थिर और चिरंतन है; इसी का अनुभूत रूप है सत्य। आगे चलकर यह सूक्ष्म भेद एक प्रकार से मिट गया और ऋत तथा सत्य प्रायः पर्याय बन गये। वैदिक वाङ्मय में ऋत या सत्य की प्राथमिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा हुई है : **ऋत बोलते हुए—ऋत करते हुए, सत्य बोलते हुए—सत्य पर चलते हुए** (ऋ० १।११३।४)—**मैं सीधा**

१, २. द्रष्टव्य—मूल्यमीमांसा (प्र० सं०) पृ० ५।

सत्य की ओर जाऊँ (य० ता० ५।५)। वैदिक ऋषि की मूल कामना है : **असतो मा सद्गमय—प्रभो ! मुझे असत्य से सत्य की ओर प्रेरित करो** (बृहदारण्यकोपनिषद् १. ३. २८)।

सत्य के साथ ज्ञान का अनिवार्य संबंध है। वैदिक वाङ्मय में ज्ञान को कभी सत्य के साधन के रूप में और कभी सत्य के पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है। सत्य की सिद्धि ज्ञान के द्वारा ही संभव है—इस दृष्टि से ज्ञान सत्य का साधन है, और चूँकि सत् का ज्ञान ही सत्य है—इस दृष्टि से ज्ञान सत्य का पर्याय है। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में सविता अर्थात् प्रकाश रूप ईश्वर से इसी ज्ञान-अथवा 'धी' के संवर्धन की कामना की गयी है :

तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ऋत और सत्य के साथ एक अन्य प्राथमिक मूल्य की बार-बार कामना की गयी है—वह है 'कल्याण' जिसके लिए वेदों में 'स्वस्ति' तथा 'भद्र' शब्दों का प्रयोग हुआ है :

१. **स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।**
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ऋ० १. ८९.६.

२. **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।**

ऋ० १.८९.८

—यजुर्वेद में इसी संदर्भ में 'योगक्षेम' पद का प्रयोग हुआ है : **योगक्षेमो नः कल्पताम्** (य० अ० २ मंत्र २२)।

ये दोनों शब्द—स्वस्ति और भद्र ऐहिक तथा आमुष्मिक कल्याण के वाचक हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य एष्य पदार्थ या 'अर्थ' हैं जिनका वेदों में अनेक रूपों में स्तवन किया गया है : शान्ति, शक्ति (तेज+वीर्य), यश, धनधान्य आदि।

१. **शान्ति**—द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वँ शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि। (यजुर्वेद ३६.१७)

दिव, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, ओषधि-वनस्पति, विश्वदेव, ब्रह्म—सभी हमारे लिए शान्तिकारी हों।

२. **शक्ति** (तेज+वीर्य+बल)—**तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।** (यजु० १९.९)

ईश्वर ! तू तेजस्वरूप है—मुझ में तेज का आधान कर। तू वीर्यवान् है—मुझे वीर्य प्रदान कर। तू बल का आधार है—मुझे बल प्रदान कर। तू ओजस्वी है—मुझ में ओज का संचार कर।

३. **धनधान्य**—सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इडस्पदे समिध्यसे **स नो वसून्या भर** ।।
(ऋ० १०.१९१.१)

उपनिषद् काल तक पहुँचते-पहुँचते चिन्तन की प्रवृत्ति अन्तर्मुख हो गई; बाह्य जीवन-मूल्यों की अपेक्षा आत्मज्ञान का ही महत्त्व बढ़ने लगा—और वही चरम सिद्धि अथवा चरम मूल्य बन गया। उपनिषदों में अनेक प्रकार से, यह घोषणा की गई है कि आत्मा ही जीवन का सर्वस्व है—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्। (कठ० ४.९.)

—अर्थात् जिससे सूर्य का उदय होता है और जिसमें वह फिर अस्त हो जाता है, जिसमें समस्त देवता स्थित हैं और जिसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता—यही वह परमतत्त्व है।

इस परमतत्त्व की प्रतिष्ठा हो जाने पर सत्य, ज्ञान, कल्याण, सुख-शांति, शक्ति एवं समृद्धि आदि समस्त मूल्य आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार रूपी चरम मूल्य में निमग्न हो गये। किन्तु तभी एक प्रश्न उठा और वह यह कि आत्मज्ञान का अपना लक्षण क्या है : यह स्थिति अभावात्मक है या भावात्मक। यदि अभावात्मक है तो फिर इसे मूल्य किस प्रकार माना जा सकता है और यदि भावात्मक है तो इसका भाव-रूप क्या है ? आत्मज्ञान के भावात्मक रूप में आनन्द की प्रकल्पना की गयी : आत्मज्ञान वस्तुतः आत्मास्वाद रूप है जो आनन्दमय है। इस प्रकार आत्मज्ञान आनन्द का पर्याय बना और वही परम पुरुषार्थ रूप में प्रतिष्ठित हुआ :

आनन्दो ब्रह्मेति विजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।
(तैत्तिरीय ३.६.१)

—अर्थात् इस प्रकार भृगु ने यह जान लिया कि आनन्द ही ब्रह्म है। ये समस्त प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्त में आगे बढ़ते हुए आनन्द में ही समा जाते हैं।

आनन्द की सिद्धि के लिए वेदों में अनेक उपायों का विधान है। ऐहिक स्तर पर इनमें प्रमुख है सहयोग अथवा सहकार : **संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जायताम्**। यही सर्वमैत्री-भाव में विकसित हो जाता है : **सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु**। और यह सर्वमैत्री-भाव सर्वहित-कामना का रूप धारण कर लेता है : **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥**

एष्य पदार्थों से सम्बद्ध उपर्युक्त संप्रत्यय क्रमशः पुरुषार्थचतुष्टय में वर्गीकृत हो गए। जीवन के चार पुरुषार्थ माने गए : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

—हे भारतवीर! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो इसमें है वही अन्य ग्रन्थों में मिलता है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं मिलता।

(महाभारत १-२-३-८-३)

भारतीय चिन्तन के अनुसार ये ही मौलिक जीवन-मूल्य हैं। अन्य मूल्यों का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। महाभारत के अनुसार पूर्ण जीवन के चार उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनको पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् जीवन के चार महान उपादेय अर्थ (मूल्यवान् वस्तुएँ) कहते हैं। १. अर्थ; इसमें संसार की वे वस्तुएँ हैं जिनकी जीवन-यात्रा में आवश्यकता होती है जैसे भोजन, मकान, वस्त्र, धन और नाना प्रकार की वस्तुएँ जो जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। २. काम; सांसारिक इच्छाओं, विषयों की, वासनाओं की पूर्ति से और विशेषतः स्त्री-पुरुष के परस्पर प्रेम, संगम, सहयोग और उपभोग से जिस सुख और आनन्द का अनुभव होता है उसे काम कहते हैं। ३. धर्म; वे नियम जिनके द्वारा हमारा व्यवहार इसलिए नियन्त्रित होना चाहिए कि संसार के सभी प्राणी एक दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रह सकें, सभी सुखी हो सकें, सभी को आवश्यकतानुसार और यथोचित अर्थ की प्राप्ति और कामोपभोग का सुख प्राप्त हो सके, जिनके अनुसार व्यवहार करने से मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक उन्नति कर सके, समाज में रहकर अपने कर्तव्यों को समझकर उनका पालन करता रहे और जिनका परिणाम दुःख-दायी न हो, जिनका पालन करते हुए अर्थ-संचय करने से किसी को हानि न हो और कामोपभोग करते हुए किसी दूसरे व्यक्ति को दुःख और क्लेश न हो, जिनके पालन करने से जीवन का पूर्ण विकास हो, पूर्ण सन्तुष्टि हो और समन्वित वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का निर्माण हो। ४. मोक्ष; मोक्ष का अर्थ है सब प्रकार के बन्धनों से, सीमाओं से, क्लेशों और दुःखों से निवृत्ति और निरपेक्ष तथा परमानन्द की प्राप्ति, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है उसमें अवस्थित होकर संसार और संसारगत सभी वस्तुओं तथा प्राणियों के साथ

तादात्म्य का अनुभव और सब प्रकार की सांसारिक बासनाओं का क्षय।"[1]

इनमें से धर्म में नैतिक-सामाजिक मूल्यों का समाकलन है, अर्थ में आर्थिक और काम में रागात्मक का। मोक्ष उपर्युक्त त्रिवर्ग से ऊपर परम पुरुषार्थ है : इसके अन्तर्गत मुख्यतः आध्यात्मिक, और आरम्भिक या साधना की स्थिति में—ज्ञान के रूप में—बौद्धिक मूल्यों का समाहार है। महाभारत में प्रथम तीन मूल्यों—धर्म, अर्थ, तथा काम के सापेक्षिक महत्त्व का विवेचन भी हुआ है—और यद्यपि व्यास का अपना मत धर्म के पक्ष में ही रहा है, फिर भी सामान्यतः त्रिवर्ग की समन्वित साधना को ही श्रेयस्कर माना गया है।

रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि में संगीत, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का स्थान-स्थान पर विस्तार से उल्लेख मिलता है। गीत-नृत्य का पर्व-उत्सव आदि सामाजिक समारोहों में, यज्ञ आदि धार्मिक आयोजनों में अत्यन्त मनोयोगपूर्वक प्रयोग होता था। संगीत मनुष्य के सुख-दुःख, प्रणय-शौर्य, नैतिक जीवनचर्या तथा जन्म-मरण का सहचर था। इसी प्रकार मूर्ति, आलेख्य तथा वास्तु-कला का सौन्दर्य ऐहिक जीवन की समृद्धि तथा देव-पूजा आदि का साधक उपकरण था। अतः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साथ, अर्थात् नैतिक-सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के साथ, सौन्दर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध था। किन्तु, यह सम्बन्ध साधक-साध्य सम्बन्ध था अर्थात् विभिन्न कलाएँ अन्य जीवन-मूल्यों की साधक थीं, समकक्ष नहीं थीं।[2]

इस प्रकार, प्राचीन साहित्य में सौन्दर्य को स्वतंत्र मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। वैदिक ऋचाओं में तथा रामायण-महाभारत में विश्व-सौन्दर्य के प्रति प्रबल आकर्षण का भाव विद्यमान है, इसमें सन्देह नहीं। उनमें रूप और स्वर के माधुर्य का अत्यन्त उच्छ्वास के साथ वर्णन किया गया है—वाणी के सौन्दर्य तथा संगीत, चित्र आदि कलाओं को महत्त्व प्रदान किया गया है, परन्तु सौन्दर्य की स्वतन्त्र अर्थ के रूप में कामना नहीं की गयी। उसका अन्तर्भाव आनन्द में ही हो जाता है—अतः सौन्दर्य-मूल्य का संधान हमें कालिदास आदि के अभिजात काव्य और विशेष रूप से काव्यशास्त्र में ही करना होगा।

कालिदास सौन्दर्य के कवि हैं। उनके मत से—

१. कलाकार अपनी मानसी कल्पना के द्वारा जिस सौन्दर्य की रचना करता है वह एक विलक्षण सृष्टि होती है। शकुन्तला के माध्यम से विधाता ने रूप के सर्वश्रेष्ठ उपादानों का संचय कर, उनके आधार पर अपनी मानसी

१. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास—डॉ० भी० ला० आत्रेय, पृ० १५६।

२. द्रष्टव्य भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० १४०-४१।

कल्पना के द्वारा जिस सौन्दर्य की रचना की वह एक विलक्षण सृष्टि प्रतीत होती थी :

स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे । (२.६)

२. सौन्दर्य एक स्वतःपूर्ण तत्त्व है जो किसी अन्य साधन या प्रसाधन की अपेक्षा नहीं करता :

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् । अ० शा० २.२६

—का न बिभूसन होइ जो रूप लिख्यौ बिधि भाल ।

३. सौन्दर्य शुद्ध और सात्त्विक तत्त्व है जिससे चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता : **यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।** (कु० १.५) जो पापवृत्ति की ओर उन्मुख होता है वह वास्तव में रूप अथवा सौन्दर्य नहीं है ।

४. सौन्दर्य का यह वैशिष्ट्य है कि वह प्रमाता के चित्त को अन्य समस्त विषयों से खींचकर अपने में केन्द्रित कर लेता है :

भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ।। (माल० २.८)

—जो भाव अन्य विषयों से मन को विरत करे और जिसमें नर्तकी (कलाकार) दिखाये जाने वाले भाव में स्वयं प्रवेश कर जाए वही रागबन्ध उत्तम है ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य का अपना स्वतन्त्र मूल्य था—आगे चलकर काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस धारणा को और भी पुष्ट कर दिया ।

इस प्रसंग में सबसे पहले श्रीशंकुक द्वारा निर्दिष्ट चित्रतुरगन्याय का उल्लेख आवश्यक है :

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः । नाप्ययमेव राम इति । न चाप्ययं न सुखीति । नापि रामः स्याद्वा व वायमिति । नापि तत्सदृश इति । किन्तु सम्यङ् मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षण चित्रतुरगादिन्यायेन, यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति । तदाह—

प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ।।
विरुद्धबुद्धिसम्भेदाद् अविवेचितसम्प्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ।।

और यहाँ १. नट ही सुखी (शृंगाररसयुक्त राम) है, यह प्रतीति नहीं होती है। और २. यही राम है, इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती। ३. न यह सुखी (राम) नहीं है, यह प्रतीति होती है। और ४. नहीं, यह राम है या नहीं—इस प्रकार की (संशयात्मक) प्रतीति होती है। किन्तु चित्रतुरगादि-न्याय से (अर्थात् घोड़े के चित्र को देखकर जिस प्रकार की प्रतीति होती है। उस प्रकार की) सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य रूप समस्त प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की, जो सुखी राम है वह ही यह (नट) है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। (अतएव उसको निश्चित रूप से भ्रांति नहीं कहा जा सकता है)। इसी से (निम्न कारिकाओं में) कहा है—

(नाटक में नट को रामादि के रूप में देखते समय) न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थता की, और न भ्रांति की प्रतीति होती है। यह (नट) वह (राम रूप) है इस प्रकार की बुद्धि होती है और यह (नट वास्तव में) वह (रामादि रूप) नहीं है इस प्रकार की भी बुद्धि होती है।

इसलिए विरुद्ध प्रकार की बुद्धियों के सम्मिश्रण के कारण पृथक् रूप से भ्रम आदि का निश्चय न हो सकने के कारण उस प्रत्यक्षात्मक अनुभव को किस प्रकार से (भ्रम आदि रूप से) कहा जाय (यह निश्चय नहीं किया जा सकता है)।

(हिन्दी-अभिनवभारती, पृ० ४४६-५०)

शंकुक के मत से स्थायी भाव की नाट्यानुकृति ही रस है। यह प्रतीति सामान्य न होकर विलक्षण होती है। कैसी होती है? जैसी कि अश्व के चित्र में अश्व की प्रतीति।—अर्थात् यह प्रतीति कला की प्रतीति है जो सामान्य प्रतीति-भेदों से भिन्न—अपने में स्वतंत्र होती है। इस प्रकार श्रीशंकुक ने अपने ढंग से कला अथवा सौन्दर्य के स्वतंत्र एवं विलक्षण स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है।

प्राचीन आचार्यों में वामन ने काव्य के संदर्भ में वस्तुपरक दृष्टि से सौन्दर्य की स्वतंत्र सत्ता की प्रतिष्ठा की है। वामन ने सौन्दर्य को काव्य का प्राणतत्त्व माना है: **काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।** (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.१.१-२)। और, यह सौन्दर्य रचना या निर्मिति का सौन्दर्य है, भाव या विचार का नहीं: **स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।** १.१.३। अर्थात् इस सौन्दर्य की सृष्टि दोष के परित्याग और गुण तथा अलंकार के समावेश से होती है। इस प्रकार की पद-रचना का नाम ही रीति है जो काव्य की आत्मा है। काव्य का सौन्दर्य रीतियों—अर्थात् पद-रचना की विभिन्न शैलियों में ही निहित रहता है जिस प्रकार रेखाओं में चित्र। १.२.१३॥ अतः वामन के मत से शब्दार्थ-पाक का नाम ही सौन्दर्य है: उसी से

सहृदय का अनुरंजन होता है : **सहृदय-हृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः।** १.२.२१ का अन्तरश्लोक।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वामन के अनुसार सौन्दर्य अथवा रचना-सौन्दर्य ही काव्य का प्राथमिक एवं परम मूल्य है। उन्होंने काव्य के केवल दो ही प्रयोजनों का निर्देश किया है। प्रत्यक्ष प्रयोजन है प्रीति—आनन्द और अप्रत्यक्ष प्रयोजन है कीर्ति। वास्तव में ये दोनों भी काव्य के फल—परिणामी उपलब्धियाँ हैं, प्रेरक प्रयोजन नहीं हैं। प्रेरक प्रयोजन तो सौन्दर्य की रचना ही है। इसीलिए आधुनिक आलोचक वामन को सौन्दर्यवादी कहते हैं, और इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि उन्होंने काव्य का सम्बन्ध न तो अर्थ-काम जैसे सहज जीवन-मूल्यों के साथ जोड़ा है, और न धर्म तथा मोक्ष जैसे नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों के साथ। आगे चलकर मम्मट आदि ने सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण से, काव्य-कला के स्वतंत्र अस्तित्व को नाना रूपों में मान्यता प्रदान की है। मम्मट ने काव्य के प्रसंग में अत्यंत आधुनिक शब्द 'निर्मिति' का प्रयोग किया है और उसे नियतिकृत नियमों से मुक्त, आनन्दमात्र-स्वभावा, सर्वतंत्रस्वतंत्र माना है :

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

(का० प्र० १.१)

संस्कृत काव्यशास्त्र में सभी आचार्यों ने काव्य-सौन्दर्य (चमत्कार) को एक स्वर से लोकोत्तर माना है जिस पर प्राकृतिक नियम घटित नहीं होते। कवि-प्रतिभा लोकोत्तर होती है, अतः उसकी सृष्टि भी लोकोत्तर या विलक्षण होती है जिसमें अरमणीय शोकादि भाव भी अलौकिक आह्लाद के कारण बन जाते हैं ? **अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति।**

(रसगंगाधर—चौखम्बा वि० भ०—प्र० आ०, पृ० १०६)

सौन्दर्य-मूल्य की स्वतंत्र सत्ता से क्या अभिप्राय है ?

यहाँ एक प्रश्न का समाधान कर लेना चाहिए और वह यह कि सौन्दर्य-मूल्य की स्वतंत्र सत्ता से क्या अभिप्राय है ? इसकी एक व्याख्या तो यह हो सकती है कि सौन्दर्य का अन्तर्भाव किसी अन्य मूल्य में : काम या धर्म आदि में, आधुनिक शब्दावली में—व्यक्ति के स्तर पर बौद्धिक अथवा रागात्मक मूल्यों में और समष्टि के स्तर पर सांस्कृतिक, नैतिक अथवा सामाजिक मूल्यों में नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य के प्रति मानव के चित्त

में जो सहज प्रवृत्ति या एषणा है उसकी पूर्ति किसी अन्य मूल्य से नहीं की जा सकती। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि सौन्दर्य सर्वथा निरपेक्ष मूल्य है धर्म, अर्थ, काम आदि से अथवा बौद्धिक, रागात्मक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा आर्थिक-सामाजिक मूल्यों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पहला मत कांट, आदि दार्शनिकों का है और दूसरा सौन्दर्यवादी या कलावादी विचारकों का। कांट, क्रोचे आदि का यह स्पष्ट अभिमत है कि सौन्दर्य निःस्वार्थ परितोष का विषय है। सौन्दर्य सार्वभौम स्तर पर आनन्द प्रदान करता है, किंतु इसमें कोई प्रत्यक्ष सम्प्रत्यय या लौकिक प्रयोजन निहित नहीं रहता :

> **१. सुन्दर वह है जो धारणाओं से मुक्त सार्वभौम आनन्द के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। (क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट—ऑक्सफ़र्ड क्लेरंडन प्रेस, १९५७, पृ० ५०)**
>
> **२. कलात्मक रुचि (विदग्धता) वह वृत्ति है जो निस्पृह आनन्द अथवा क्षोभ के आधार पर किसी कलाकृति का आकलन करती है। इस प्रकार के आनन्द का विषय ही सौन्दर्य है।—अर्थात् सौन्दर्य वह तत्त्व है जिससे हमें निस्पृह आनन्द की प्राप्ति होती है। [क्रि० ऑफ़ ज०, पृ० ५०)**

क्रोचे भी सौन्दर्य की अनुभूति को उसके अपने शुद्ध रूप में स्वतंत्र एवं निरपेक्ष मानते हैं जिसका कोई रागात्मक, बौद्धिक या नैतिक प्रयोजन नहीं होता :

सहजानुभूत ज्ञान (क्रोचे के मत से यही सौन्दर्यानुभूति है) अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है। वह बौद्धिक क्रिया से स्वतंत्र और स्वायत्त है, परवर्ती अनुभवाश्रित प्रभेदों, यथार्थ और अयथार्थ, स्थान एवं काल के रूप-संघटनों तथा अवबोधों के प्रति वह उदासीन है······वह संवेदन के प्रवाह से भिन्न है, वह मानसिक वस्तु, द्रव्य से भिन्न है······। (ऐस्थेटिक, विज़न प्रेस, पीटर ओविन, लंदन—१९५३, पृ० ११)

और भी आत्मवादी कला-दार्शनिकों ने प्रायः इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। ये सभी गंभीरचेता विचारक सौन्दर्य को स्वतंत्र मूल्य मानते हैं. इसमें सन्देह नहीं; परन्तु अन्य जीवन-मूल्यों के साथ उसके सम्बन्ध का निषेध नहीं करते। कांट ने 'शुद्ध प्रमा' और 'व्यावहारिक प्रमा' की समीक्षा की शृंखला के अन्तर्गत ही सौन्दर्य-चिंतन की समीक्षा की है: अर्थात् सौन्दर्य-का विचार तत्त्व-मीमांसा तथा नीतिशास्त्र के साथ ही किया है, और सौन्दर्य-मूल्यों का बौद्धिक तथा नैतिक मूल्यों के साथ अन्तरंग सम्बन्ध माना है। क्रोचे ने स्थिति को और भी स्पष्ट कर दिया है। उनके विचार से कला की मूल्य एवं आंतरिक सृष्टि सहज रूप में, अनिवार्यतः घटित होती है : वह

लौकिक—सामाजिक-नैतिक—नियमों से प्रतिबद्ध न हो सकती है और न है। उस पर कलाकार के चेतन मन का कोई ज़ोर नहीं है। किन्तु जब वह इस अन्तःसृष्टि को लौकिक उपकरणों के द्वारा मूर्त रूप प्रदान करने का निश्चय तथा उपक्रम करता है तो लौकिक नियमों का पालन उसके लिए आवश्यक हो जाता है और इस प्रकार मूलतः स्वतंत्र होने पर भी सौन्दर्य-मूल्य अन्य बृहत्तर जीवन-मूल्यों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं।

सौन्दर्य-मूल्यों की स्वतंत्र सत्ता की यह एक व्याख्या है जो अपेक्षाकृत अधिक विवेक-सम्मत तथा बुद्धि-ग्राह्य है।

दूसरे निर्वचन में अतिवाद का आश्रय लिया गया है। इसके अनुसार सौन्दर्य का मूल्य उसके स्व-रूप में ही निहित है, अन्य जीवन-मूल्यों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस वर्ग के विचारकों में उग्र कलावादी, जीवन-विधान के प्रति विद्रोही कवि-लेखक और आधुनिक अर्थमीमांसक आते हैं। विद्रोही कवि स्विनबर्न ने ललकार कर कहा: **कविता का मूल्य उसके नैतिक अर्थ या प्रयोजन पर किसी प्रकार निर्भर नहीं रहता : वर्जिल-रचित सीज़र की या ड्राइडन-कृत स्टुअर्ट नृपति की प्रशस्ति देशभक्ति अथवा स्वातंत्र्य-प्रेम से अनुप्रेरित बेबियस या सैटिल द्वारा व्यक्त अत्याचार के प्रति उदात्त से उदात्त आक्रोश की अपेक्षा अधिक काम्य है।"** (स्विनबर्न—ऐसेज़ ऐण्ड स्टडीज़)।—नया समीक्षक, जो अर्थमीमांसा को ही आलोचना का सार-सर्वस्व मानता है, इसी बात को एक नये अंदाज़ से कहता है। वह सदसत् या नैतिक-अनैतिक के प्रपंच में न पड़कर विषय-वस्तु को ही मूल्य-मीमांसा के संदर्भ में अप्रासंगिक मानकर चलता है। उसकी दृष्टि में कविता या कला का सत्य अन्विति का सत्य है, संवादिता का नहीं : अर्थात् कला का मूल्य रचना-तत्त्वों की आंतरिक अन्विति पर निर्भर करता है, जीवन-सन्दर्भों तथा मूल्यों के साथ उनकी संगति या सम्वाद पर नहीं।—यह व्याख्यान अतिवाद से दूषित है, इसे आंशिक रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है, समग्र अथवा यथावत् रूप में नहीं।

भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य तथा अन्य जीवन-मूल्यों का सम्बन्ध

भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य-मूल्य की स्वतंत्र सत्ता का प्रतिपादन विवेक-सम्मत रीति से किया गया है। सौन्दर्य का अपना स्वतंत्र मूल्य है; सहृदय-समाज सौन्दर्य की कामना सामान्य लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा हित-साधन के लिए नहीं करता वरन् एक उच्चतर मूल्य के रूप में करता है : भारतीय काव्यशास्त्र इस विषय में सर्वथा आश्वस्त है। किन्तु जीवन के साथ उसका कोई सम्वाद नहीं है, यह या इसके समान कोई अन्य धारणा उसे सर्वथा अग्राह्य है : उसका स्पष्ट मत है कि अन्य जीवन-मूल्यों

के साथ, विशेष रूप से उच्चतर जीवन-मूल्यों के साथ सौन्दर्य का अनिवार्य सम्बन्ध है। भरत से लेकर जगन्नाथ तक सभी आचार्य इस विषय में एकमत हैं।

भरत ने नाट्य को चारों वेदों से अतिरिक्त पंचमवेद के रूप में प्रतिष्ठित किया है :

नाट्याख्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ।।

ना० शा० १. १५ (उत्तरार्ध)

श्रुति, स्मृति तथा सदाचार (नीति) सम्बन्धी शास्त्रों से अवशिष्ट अर्थ की परिकल्पना कर, लोक का विनोद करना उसका उद्देश्य है।

श्रुति-स्मृति-सदाचारपरिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोको नाट्यमेतद्भविष्यति ।।[1]

कहने का अभिप्राय यह है कि 'नाट्य' की सत्ता वेदों में संकलित अर्थ से पृथक् मानी गयी है और उसकी रचना का मूल कारण अथवा उसका मूल प्रयोजन लोक के चित्त का अनुरंजन माना गया है। इसीलिए उसे 'क्रीडनीयक'—मनोविनोद का साधन कहा गया है। परन्तु स्वतन्त्र होने पर भी उसकी रचना वेदों के आधार पर ही हुई है और वह वेद-प्रतिपादित जीवन-मूल्यों का ही अनुकीर्तन करता है। उसमें धर्म में प्रवृत्त सामाजिकों के लिए धर्म का निरूपण है, काम में रत व्यक्तियों के लिए काम की शिक्षा है, दुष्टों के निग्रह तथा सज्जनों के लिए संयम की विधि है। वह कायरों को साहस तथा मानी शूरवीरों को उत्साह, अज्ञानियों को ज्ञान और विद्वानों को वैदुष्य प्रदान करता है। श्रीमंतों के लिए उसमें विलास की सामग्री है। वह दुखी मनुष्यों को शान्ति प्रदान करता है। अर्थोपजीवियों के लिए अर्थोपार्जन की विधि का निर्देश करता है और उद्विग्न व्यक्तियों के लिए धैर्य का उपदेश देता है।[2]—इस प्रकार जीवन के अन्य मूल्यों—धर्म, अर्थ और काम—के साथ उसका पूर्ण सामञ्जस्य है।

भामह के अनुसार काव्य अर्थात् शब्द-अर्थ के सौन्दर्य का जीवन में विशेष मूल्य है। कवित्व अर्थात् सौन्दर्य-चेतना के अभाव में न ज्ञान का विशेष मूल्य है और न प्रगल्भता अथवा वाक्-कौशल का :

अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम् ।। (काव्यालंकार १.३।२)

१. यह श्लोक ना० शा० के प्रथम अध्याय में ११६ के बाद आता है। यद्यपि अनेक विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं फिर भी प्रत्येक संस्करण में यह यथावत् उद्धृत होता रहा है।
२. नाट्यशास्त्र अध्याय १. १०९-१११ ।

या

रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥ (काव्यालंकार १.४।२)

यह काव्य अथवा सौन्दर्य-संस्कार सामान्य लौकिक सुखों से भिन्न एक विलक्षण प्रीति का कारण है, किन्तु फिर भी अन्य जीवन-मूल्यों के साथ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साथ इसका अनिवार्य सम्बन्ध है :

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च । (१.२।१)

दण्डी का भी यही मत है। सर्वशुक्ला सरस्वती के रूप में उन्होंने वाणी के सौन्दर्य की वन्दना की है और रसवती वाणी को अपूर्व आह्लाद-प्रदायिनी कहा है। परन्तु चतुर्वर्ग के साथ उसका सम्बन्ध है, इस विषय में भी दण्डी के मन में किसी प्रकार की द्विधा नहीं है :

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं धीरोदात्तनायकम् ॥ काव्यादर्श १.१५॥

—**रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम् ।** (का० २.६), काव्य में रचना-सौन्दर्य को महत्त्व देते हुए भी रुद्रट ने रस-भाव-सौन्दर्य को काव्य-रचना की सिद्धि माना है; उसी के आधार पर वह शास्त्र से अधिक काम्य बन जाता है :

तस्मात्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ॥ काव्यालंकार १२.२ ॥

इसलिए काव्य को पूर्ण यत्न के साथ रसयुक्त बनाना चाहिए, अन्यथा शास्त्र की भाँति वह भी क्लेशकर हो जाएगा।

इसका एक स्पष्ट लाभ यह होगा कि सहृदय की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में सरलता से प्रवृत्ति हो जाएगी : **ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे** । १२.१ ॥ परवर्ती आचार्यों का भी दृष्टिकोण प्रायः यही रहा।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के माध्यम से कल्पनात्मक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है, जो अन्य सौन्दर्य-रूपों से विलक्षण है : **प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति**··· (१।४)। कवि स्वतन्त्र भाव से अपनी रुचि के अनुसार सौन्दर्य-रूपों की सृष्टि करता है :

व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

शब्द-अर्थ द्वारा व्यंग्य—अर्थात् कल्पनागम्य यही सौन्दर्य काव्यकला का प्राणतत्त्व

या चरम मूल्य है। आनन्दवर्धन ने काव्य अथवा कला के संदर्भ में इसे ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। अन्य मूल्यों को उन्होंने उतना गौरव तो नहीं दिया जितना अन्य आचार्यों ने किन्तु निषेध भी उनका नहीं किया।—उदाहरण के लिए 'मोक्ष' को काव्य के संदर्भ में शान्त रस के रूप में स्वीकार किया है : **मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थकः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसः × × × ॥** (ध्व० उ० ४, कारिका ५ की वृत्ति)। इसी प्रकार, सदाचारपरक मूल्यों अर्थात् धर्म या नैतिक मूल्यों की भी सिद्धि काव्य में शृंगारादि के सरस वर्णन द्वारा सुख-सरल रीति से हो जाती है : **शृंगाररसाङ्गैः उन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति।**—शृंगारादि रसों के अंगों के प्रति उन्मुख हो जाने पर शिष्टजन सुखपूर्वक सदाचार के उपदेशों को ग्रहण कर लेते हैं (ध्व० ३.३० वृत्ति)। इसी दृष्टि से रस को काव्य का परमतत्त्व मानने पर भी आनन्दवर्धन ने प्रसिद्ध औचित्य अर्थात् लोक-वेद द्वारा निर्धारित औचित्य के प्रतिमानों को उसका उपनिषत् अर्थात् अंतरंग रहस्य माना है :

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।

(हिन्दी ध्व० प्र० सं०, पृ० २५९)

भरत-सूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याता भट्टनायक ने सौन्दर्य-मूल्यों के साथ नैतिक-सामाजिक मूल्यों की संगति की अत्यन्त मार्मिक व्याख्या की है। शृंगारादि रस-प्रसंगों में आलम्बन होते हैं सीता-पार्वती आदि जिनके प्रति सहृदय की पूज्यबुद्धि है। विषयगत रूप में भी दूसरों के संभोगादि दृश्यों का—विशेषकर पूज्य व्यक्तियों के—प्रेक्षण-श्रवण करना लोक में नीति-विरुद्ध है और उससे लज्जा-जुगुप्सा आदि भावों का ही उद्रेक हो सकता है। विषयिगत दृष्टि से समस्या और भी जटिल हो जाती है। रस का मूल आधार है सहृदय का अपना रत्यादि स्थायी भाव : वही अन्ततः विभावादि के सम्पर्क से शृंगार-रस में परिणत होता है। सीता-पार्वती आदि मातृरूपा देवियाँ आलम्बन या रति-भाव का विषय हैं और रति-भाव सहृदयगत है। इससे तो घोर अनैतिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है और काव्यगत सौन्दर्य-मूल्यों तथा लोकगत नैतिक मूल्यों में भयंकर विरोध उपस्थित हो जाता है।—भट्टनायक ने अपने साधारणीकरण सिद्धान्त के द्वारा इस विरोध का परिहार किया है। रस-सिद्धान्त के अनुसार इसके समस्त अवयवों—आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी देश-काल की सीमा में परिबद्ध अपने विशेष रूप का परित्याग कर सामान्य भूमिका में अवस्थित तथा सम्बन्ध-सम्बन्धी की भावना से मुक्त हो जाते हैं। सहृदयगत स्थायी भाव भी उपर्युक्त प्रक्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति-चेतना अर्थात्

स्व-पर, राग-द्वेषादि की भावना से मुक्त होकर भाव की सामान्य भूमिका में अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार विषय के लौकिक सम्बन्धों से, और विषयी की चेतना के स्व-पर की भावना से मुक्त हो जाने के कारण उपर्युक्त विरोध का परिहार हो जाता है, क्योंकि सीता अपने लोक-प्रसिद्ध मातृरूप का परित्याग कर रूपगुण-सम्पन्न सहज नारी की, राम अपने दिव्य स्वरूप को छोड़कर रूप-मुग्ध पुरुष की भूमिका में अवतरित हो जाते हैं—और उधर सहृदय का चित्त भी, व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होकर इस अव्यक्तिगत (कलात्मक) भाव-स्थिति की निर्विघ्न प्रतीति=आस्वादन कर लेता है। अतः सौन्दर्य-मूल्यों और नैतिक मूल्यों में विरोध न होकर विरोधाभास मात्र होता है। स्थूल लोक-दृष्टि इस भ्रम में पड़ सकती है, परन्तु सूक्ष्मतर कला-दर्शन के आलोक में उसका निवारण हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने इस प्रश्न का समाधान, दार्शनिक स्तर पर, शैव आनन्द-वाद के प्रकाश में किया है। अभेदवादी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार श्रेय और प्रेय अथवा मंगल और काम में भेद नहीं है: इन दोनों का समाहार आनन्द रूप शिव-तत्त्व में हो जाता है। अतः तात्त्विक दृष्टि से सुन्दर और शिव का पूर्ण ऐकात्म्य है। शैव दर्शन के अनुसार आनन्द का अर्थ है संविद्विश्रांति—अर्थात् आत्मचैतन्य में पूर्ण अवस्थिति जिसे आत्मपरामर्श भी कहा गया है। काव्यानन्द तथा आत्मानन्द दोनों में (वरन् विषयानन्द में भी) आनन्द का लक्षण तो यही रहता है, परन्तु उसमें मात्रा तथा गुण का भेद हो जाता है। काव्यानन्द में भाव या चित्तवृत्ति के संस्कार का अनुवेध रहता है, अतः वह शुद्ध और अक्षय नहीं होता, जबकि आत्मानन्द में विषय का स्पर्श न रहने से आत्म-परामर्श की स्थिति अविकृत और अक्षुण्ण रहती है। रस अथवा सौन्दर्यानुभूति की स्थिति में भी चेतना का आवरण भग्न हो जाता है—अर्थात् वह देश-काल, स्व-पर के बन्धनों से मुक्त होकर विशुद्ध भाव का भोग करती है: **भग्नावरण-चिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायिभावो रसः** (अभिनवगुप्त)। ऐसी स्थिति में अपने मूल रूप में भाव (काम) पर आधृत सौन्दर्य की अनुभूति लौकिक विषयों की अनुभूति की अपेक्षा अधिक परिशुद्ध बनकर आध्यात्मिक अनुभूति के निकट पहुँच जाती है और सौन्दर्य का प्रारम्भिक अवस्था में काम के साथ और परिणति की अवस्था में धर्म तथा मोक्ष जैसे उच्चतर नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों के साथ आंतरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में, अभिनवगुप्त के समसामयिक और परवर्ती आचार्यों में प्रमुख हैं कुन्तक, भोज, महिमभट्ट, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि। इनमें कुन्तक ने एक विशेष दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने काव्य को मूलतः कला माना है और अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ में काव्य के कलाशास्त्र अथवा सौन्दर्य-

शास्त्र का ही विधान किया है। उनकी वक्रता काव्य के निर्मिति-सौन्दर्य का ही पर्याय है। इसीलिए उन्होंने काव्य के संदर्भ में सौन्दर्य के आस्वाद को अन्य मूल्यों से अधिक काम्य माना है :

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ १. ५.

काव्यामृत का रस सहृदयों के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

लेकिन, फिर भी कुन्तक ने एक ओर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और दूसरी ओर नूतन औचित्य से मंडित व्यवहार-सौन्दर्य—अर्थात् सुसंस्कृत आचार-व्यवहार आदि नैतिक-सामाजिक मूल्यों को कम गौरव नहीं दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि १. **काव्यबंध अभिजात जन के लिए आह्लादकारी और सुकुमार—ललित-कोमल शैली में प्रतिपादित, धर्मादि की सिद्धि का उपाय है।—तथा २. शिष्ट-समाज काव्य के परिज्ञान से ही परिस्थिति के अनुकूल आचार-व्यवहार के सौन्दर्य की शिक्षा प्राप्त करता है॥** १.३-४॥ निष्कर्ष यह है कि यद्यपि कुंतक ने काव्य के संदर्भ में नैतिक-सामाजिक मूल्यों के प्रति आस्था व्यक्त की है, फिर भी सौन्दर्य के प्रति उनका आग्रह सर्वथा स्पष्ट है : बौद्धिक स्तर पर वे अन्तश्चमत्कार अर्थात् सौन्दर्य के आस्वाद को सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानते हैं और व्यावहारिक स्तर पर भी आचरण के सौन्दर्य अर्थात् शोभा-गरिमा को ही प्राथमिकता देते हुए औचित्य को उसका पोषक गुण मात्र मानते हैं।

उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों के इस विषय में प्रायः तीन प्रकार के विचार मिलते हैं : धनञ्जय ने नाट्यकला का मूल तथा एकमात्र उद्देश्य परमानन्द रूप रसास्वाद माना है और उन आचार्यों का उपहास किया है जो इतिहास-पुराण की भाँति नाट्यकला से भी केवल लोकज्ञान की ही उपलब्धि मानते हैं :

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥ (द० रू० १.६)

धनिक ने उपर्युक्त कारिका का भाष्य करते हुए लिखा है कि यहाँ धनञ्जय ने भामह पर कटाक्ष किया है। यह सर्वथा उचित नहीं है क्योंकि भामह ने तो स्पष्ट शब्दों में प्रीति का उल्लेख किया है। फिर भी उनके उक्त कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काव्य के संदर्भ में लोकज्ञान आदि त्रिवर्ग को धनञ्जय और धनिक कोई महत्त्व नहीं देते ; उनका सम्बन्ध वे शास्त्र और पुराण आदि से ही मानते हैं। इस प्रकार धनञ्जय-धनिक

सौन्दर्य-मूल्यों के स्वतंत्र महत्त्व के समर्थक हैं।—इसके एकदम विपरीत दृष्टिकोण है महिमभट्ट का। उनका स्पष्ट कथन है कि काव्य और शास्त्र का अभीष्ट फल एक ही है—**विधिनिषेधात्मक व्युत्पत्ति अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य** का, सदसत् का ज्ञान : **सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद्विधिनिषेधव्युत्पत्तिफलम् ॥** व्य० वि०, प्र० वि० ९५ ॥ दोनों में उपाय या साधन का भेद है। काव्य और नाट्य में प्रयुक्त संगीत, नृत्य आदि कला-रूप सिद्धि नहीं है—केवल सरस उपाय या साधन मात्र हैं जिनका उपयोग **'गुडजिह्विका न्याय'** से किया जाता है। जिस प्रकार कटु ओषधि गुड़ या शहद में मिलाकर सहज ग्राह्य बन जाती है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति अर्थात् सदसत् का दुरूह ज्ञान विविध सौन्दर्य-रूपों के माध्यम से रुचिकर बन जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकार वास्तविक मूल्य ओषधि ही है, गुड़ या शहद नहीं, इसी प्रकार अभीष्ट मूल्य व्युत्पत्ति या सत्यासत्य का विवेक ही है, सौन्दर्य नहीं। इनके अतिरिक्त एक तीसरी विचारधारा भी है जो समन्वयशील एवं व्यवहारवादी है। इसके अन्तर्गत राजशेखर, मम्मट आदि आते हैं। इन आचार्यों ने तत्त्व-विवेचन के प्रपञ्च में न पड़कर व्यावहारिक रीति से, ऐतिहासिक तथा अनुगम विधि से काव्यजन्य उपलब्धियों का आकलन कर दिया है। राजशेखर के मत से काव्य से आनन्द[1], कीर्ति[2] तथा अर्थ[3] की सिद्धि होती है, शिष्यवर्ग की शिक्षा की व्यवस्था होती है, लोक को उचित मार्ग पर चलने का उपदेश मिलता है : **किञ्च कविवचनायत्ता लोकयात्रा। "सा च निःश्रेयसमूलम्" इति महर्षयः।**[4] मम्मट ने इन बिखरे सूत्रों को एकत्र कर दिया है और काव्य से यश, अर्थ-लाभ, व्युत्पत्ति या व्यवहार-बुद्धि, अमंगल का नाश सद्यःपरनिर्वृति तथा कांतासम्मित उपदेश की उपलब्धि का आख्यान किया है :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

का० प्र० १२ ॥

कलाशास्त्र

भारतीय वाङ्मय में संगीत, नृत्य, मूर्ति-चित्र तथा स्थापत्य आदि

१-२. तयोश्च कविलोकस्वर्गसर्गं तमकल्पतां, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यमधिवसन्तो दिव्येन देहेन कवय आकल्पं मोदन्ते। का० मी० (हिन्दी अनुवाद—प्र० सं० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ० २३)

२-३. ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण; राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिम। पृ० ६७।

४. का० मी०, पृ० ६६।

कलाओं का उद्देश्य आध्यात्मिक-धार्मिक ही माना गया है, यद्यपि ऐहिक जीवन के उपयोग और उसमें सहायक अर्थ, काम आदि के साथ भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसमें भी संदेह नहीं है। उपनिषत् काल में अध्यातम-साधना में संगीत अर्थात् 'नादानुसंधान' तथा 'लययोग' के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया :

नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ वाराहोपनिषत् २, ८३ ॥

नाद परब्रह्म में लीन होने का परम साधन है और वह मंत्रयोग तथा हठयोग की अपेक्षा अधिक प्रभावी है। योगतत्त्वो० १६.२३ ॥ नारदीय शिक्षा तथा उससे प्रभावित अन्य शिक्षा-ग्रंथों में संगीत का भक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। आगे चलकर, संगीतशास्त्र के आकर-ग्रंथों—'संगीतरत्नाकर' आदि में, संगीतजन्य सार्वभौम आनन्द के अत्यंत उच्छ्वासपूर्ण वर्णन के बाद चतुर्वर्ग के साथ उसके अन्तःसम्बन्ध का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख मिलता है।

१. 'संगीतरत्नाकर' की सृष्टि धर्म, कीर्ति तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए की गयी है :

शाश्वताय व धर्माय कीर्त्यै निःश्रेयसाप्तये ।
आविष्करोति संगीतरत्नाकरमुदारधीः ॥ १.१४ ॥

२. उस गीत का माहात्म्य-वर्णन कौन कर सकता है जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का एकमात्र साधन है :

तस्य गीतस्य माहाऽऽत्म्यं के प्रशंसितुमीशते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम् ॥ १.१.३० ॥

चित्र अर्थात् प्रतिमा तथा आलेख्य की रचना का मूल आधार आध्यात्मिक ही माना गया है। चिन्मय, अद्वितीय, निष्कल तथा निराकार ब्रह्म के तत्त्व को सामान्य जन ग्रहण नहीं कर सकते, अतः उपासकों के लिए चित्र-प्रतिमा आदि के द्वारा उसके रूप-आकार की कल्पना की जाती है :

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानाम् कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ (हयशीर्षपंचरात्र)

वस्तुतः भारतीय स्थापत्य तथा चित्र अथवा प्रतिमा-आलेख्य कलाओं का आधार धर्म ही है : "भारतीय वास्तुकला एवं प्रस्तरकला या मूर्तिनिर्माण कला के जो प्राचीन स्मारक-निदर्शन हमें प्राप्त होते हैं, उनमें धर्माश्रयता प्रमुख ही

नहीं वरन् सर्वोत्कर्षेण विराजमान दृष्टिगोचर हो रही है। प्राचीन किसी वास्तुस्मारक को हम देखें, यह हिन्दू है अथवा बौद्ध या जैन—सभी में धर्माश्रयता ही बलवती है। भारतीय वास्तुकला के नव स्वर्णिम प्रभात में अशोककालीन वास्तुकृतियाँ निर्मित की जाती हैं—उन सभी का एकमात्र उद्देश्य महात्मा बुद्ध के पावन धर्म के प्रचार के लिए ही तो था। आगे की अगणित कृतियों एवं भव्याकृतियों में भी वही प्रेरणा, वही साधना, वही तन्मयता है जिसने भूतल पर स्वर्ग का निर्माण किया है, निराकार विश्वमूर्ति को साकारता प्रदान की है, तथा त्याग, तपस्या एवं तपोवन की त्रिवेणी पर अगणित प्रयागों का निर्माण किया है।" (प्रतिमाविज्ञान—डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, पृ० १६)। "प्रतिमा का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक—उपासनात्मक अथवा उपचारात्मक प्रयोजन पूजा-परम्परा एवं उसकी पद्धति है। परन्तु प्रतिमा का स्थापनात्मक अथवा स्थापत्यात्मक प्रयोजन प्रासाद (मन्दिर) में प्रतिष्ठा है। प्रासाद एवं प्रतिमा का वही सम्बन्ध है जो शरीर और प्राण का है। बिना प्रतिमा प्रासाद निष्प्राण है। यद्यपि मध्यकालीन विचारधारा के अनुरूप प्रासाद स्वयं प्रतिमा है—प्रासाद विश्वमूर्ति की भौतिक प्रतिकृति है अथच वह अर्चागृह (प्रतिमा का घर) के साथ-साथ स्वयं अर्च्य है। हिन्दू-प्रासाद की रचना-पद्धति में प्रासाद-कलेवर के विभिन्न अंगों के निर्माण में प्रतिमा-प्रतीकों का ही प्राधान्य है।" (वही, पृ० १७५)। समरांगणसूत्रधार, अभिलषितार्थचिन्तामणि आदि में धर्म को ही इन कलाओं की मूल प्रेरणा मानते हुए भौतिक सिद्धियों—यश, आरोग्य, समृद्धि—आदि के साथ भी इनका सीधा सम्बन्ध जोड़ा गया है।

१. प्रतिमा-कला के सन्दर्भ में, स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि धातुओं की प्रतिमाओं के निर्माण का फल समरांगणसूत्रधार में इस प्रकार वर्णित है :

सुवर्णं पुष्टिकृद् विद्याद् रजतं कीर्तिवर्धनम् ॥
प्रजाविवृद्धिजं ताम्रं शैलेयं भूजयावहम् ।
आयुष्यं दारवं द्रव्यं लेप्यचित्रे धनावहे ॥ (७६.२-३)

—अर्थात् सुवर्ण, रजत, ताम्र, प्रस्तर, काष्ठ तथा लेप्य पदार्थों की प्रतिमाओं के निर्माण के फलस्वरूप स्वास्थ्य, कीर्ति, संतान, विजय, आयुष्य तथा धन की प्राप्ति होती है। अभिलषितार्थचिंतामणि में भी इसी की पुष्टि की गयी है।

२. **शुभप्रदं नरेन्द्राणां विजयारोग्यवर्धनम् ।**

(अ० चि० राजभवनलक्षणम्
प्रकरण १, अ० ३, श्लोक ५०)

३. आरोग्यं विजयं कीर्ति श्रियमाप्नोति पुष्कलाम् ।
आरोग्यं विजयं कीर्ति सन्तोषं परमाप्नुयात् ।। श्लोक ७६

किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐहिक मूल्यों के साथ ललित कलाओं के सम्बन्ध की स्वीकृति इन ग्रंथों में नहीं है । इनकी रचना से शताब्दियों पूर्व ही वात्स्यायन कामसूत्र में काम के साथ कलाओं का अन्त:सम्बन्ध स्थापित कर चुके थे । उन्होंने कलागत सौन्दर्य को नागर जीवन की सुख-समृद्धि का प्रमुख साधन माना है । (द्रष्टव्य—प्रस्तुत पुस्तक का पृ० ७२ ।)

अतएव कलाशास्त्र में भी सौन्दर्य तथा अन्य जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध का निरूपण प्राय: उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार काव्यशास्त्र में : वरन् एक दृष्टि से कलाशास्त्र में निरूपित सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ एवं घनिष्ठ है, क्योंकि शताब्दियों तक संगीत, मूर्ति तथा स्थापत्य कलाएं धर्म के प्रचार-प्रसार और ऐहिक स्तर पर जीवन के उपभोग-विलास की प्रत्यक्ष माध्यम-उपकरण रही हैं ।

यश की मूल्यरूपता

उपर्युक्त प्रयोजनों अथवा अभीष्ट पदार्थों में सद्य:-परनिर्वृति पद सौन्दर्य-जन्य आस्वाद का वाचक है, शेष का अंतर्भाव प्राय: धर्म-अर्थ अर्थात् नैतिक-सामाजिक मूल्यों में हो जाता है । केवल एक प्रयोजन रह जाता है—यश जिसका भारतीय काव्यशास्त्र में भरत और भामह से लेकर जगन्नाथ आदि तक सभी आचार्यों ने काव्य की उपलब्धि के रूप में अत्यंत आग्रहपूर्वक उल्लेख किया है :

भरत : धर्म्यं **यशस्य**मायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् । ना० शा० १. ११५½ ।

भामह : प्रीतिं करोति **कीर्ति** च साधुकाव्यनिषेवणम् । का० १.२।१½

वामन : काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीति**कीर्ति**हेतुत्वात् । का० सू० वृ० १.१.५।।

रुद्रट : कल्पान्तस्थायि **यश**: प्राप्नोति महाकवि: काव्यात् । १.२१ ½ ।।

राजशेखर : **ख्याता** नराधिपतय: कविसंश्रयेण; राजाश्रयेण च गता: कवय: प्रसिद्धिम् । का० मी०, पृ० २३ ।।

भोज : रसान्वितं कवि: कुर्वन्**कीर्ति** प्रीतिं च विन्दति । स० कं० १. २ । ½ ।।

मम्मट : काव्यं **यशसे**……।

जगन्नाथ : तत्र **कीर्ति**परमाह्लादगुरुराजप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य । (र० गं० प्रथम आनन)

काव्यशास्त्र के अतिरिक्त भी, भारतीय वाङ्मय में आरंभ से ही यश

की कामना नाना रूपों में व्यक्त की गयी है : वेद में यजमान अत्यंत आग्रह-पूर्वक यश के लिए प्रार्थना करते हैं :

—धनवान् इन्द्र मुझे यशस्वी बनाए। द्यौ और पृथ्वी मुझे यशस्वी बनाएं। देव सविता यशस्वी बनाए। यहीं पर मैं (यश के) दाता (ईश्वर) का प्यारा बनूं। जिस प्रकार इन्द्र पृथ्वी और आकाश में यशस्वी है, जैसे जल ओषधियों में यशस्वी है, इसी प्रकार हम समस्त संसार और देवताओं में यशस्वी बनें।

(अथ० ६।५८।१, ३)

इसी प्रकार रामायण और महाभारत में यश को परम सिद्धि माना गया है। अभिजात काव्य में कालिदास, भारवि, भवभूति आदि महाकवियों ने यश का परम धन के रूप में स्तवन किया है :

तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः। भवभूति उ० रा० १.११॥

—यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ॥
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवांकमुपैति सिद्धिः ॥

भारवि कि० ३

—कीर्ति स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः ॥

(वामन द्वारा उद्धृत श्लोक १.१)

पाश्चात्य कवियों और आलोचकों ने भी काव्य की सिद्धियों में आनन्द और व्युत्पत्ति (अर्थात् उचितानुचित के ज्ञान) के अतिरिक्त यश की गणना की है। होमर आदि कवियों ने कीर्ति का गौरवगान अत्यंत ओजस्वी वाणी में किया है, महाकाव्य और विशेषकर वीर-काव्य की कथावस्तु में नायक के प्रताप और यश का वर्णन ही मुख्य माना गया है : **ग्लोरी इज़ दि थीम ऑफ़ दि हीरोइक पोइम—आई मीन ग्लोरी।** (महाकवि स्पेंसर)। कतिपय पाश्चात्य आलोचकों के निम्नोक्त उद्धरण इसी तथ्य का प्रकाशन करते हैं कि यश साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है :

होरेस : जो भी व्यक्ति शिव और सुन्दर को समन्वित करता है वही सफल होता है क्योंकि वही पाठक को मुग्ध भी करता है और उसे शिक्षा भी देता है। ऐसी ही पुस्तक प्रकाशकों के लिए लाभदायक सिद्ध होती है, उसका देश-देशान्तरों में प्रचार होता है और उसके लेखक को स्थायी यश प्राप्त होता है।

बुअलो : तुम भी, जो इस साधु कला में सफलता प्राप्त करना चाहते हो, सामने आओ और उत्कृष्ट काव्य-रचना द्वारा सुयश-लाभ के लिए प्रयत्न करो। क्या तुम वस्तुतः चाहते हो कि रंगमंच पर तुम यशस्वी बनो

और निर्णायकों के रूप में सम्पूर्ण नगर को आमंत्रित कर सको? क्या तुम्हारी अभिलाषा यह है कि तुम्हारी रचनाएँ अमर हो जायें और युगों-युगों के बाद भी उनको पढ़ा जाये? तो तुम जो कुछ लिखो उसमें सावधानी और कलात्मकता से भावों के उद्रेक का और हृदय को आकर्षित करने का ध्यान रखो।

पोप: शुभ काल में जीवन धारण करने वाले सफल सुकवि, तुम धन्य हो! तुम सम्पूर्ण जगत् की प्रशंसा के अमर अधिकारी हो। काल की गति के साथ तुम्हारी प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है जैसे नदी ज्यों-ज्यों नीचे की ओर प्रवाहित होती जाती है, त्यों-त्यों उसका विस्तार भी बढ़ता है। भावी जातियाँ तुम्हारे यशस्वी नामों का गुणगान करेंगी, आज जो संसार भविष्य के गर्भ में प्रतिष्ठित है वह भी एक दिन तुम्हारी सराहना करके कृतकृत्य होगा।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय तथा पाश्चात्य वाङ्मय में—काव्य, शास्त्र, एवं काव्यशास्त्र—तीनों में—यश को जीवन की अत्यंत काम्य उपलब्धि माना गया है। व्यावहारिक दृष्टि से उसे प्रयोजन का भी प्रयोजन मान लिया जाए तो अधिक अनुचित न होगा, क्योंकि अर्थ, काम तथा धर्म के मूल में भी प्रच्छन्न रूप से यश की स्पृहा प्रायः विद्यमान रहती है। इसीलिए वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा—इन तीन एषणाओं अथवा मूलवृत्तियों में लोकैषणा को सर्वाधिक सूक्ष्म किन्तु उतनी ही बलवती माना गया है। फिर भी यह आश्चर्य है कि न तो भारतीय दार्शनिकों ने चतुर्वर्ग के अन्तर्गत और न पाश्चात्य मूल्यशास्त्र के आचार्यों ने परिगणित मूल्यों के अंतर्गत यश को कोई स्थान दिया है। इस संदर्भ में दो प्रश्न आते हैं: १. वास्तव में यश मूल्य है या नहीं? २. यदि है तो भारतीय तथा पाश्चात्य मनीषियों ने प्रायः इसे मूल्य रूप में क्यों नहीं स्वीकार किया?

पहले प्रश्न के उत्तर में हमारा निवेदन है कि यश को मूल्य रूप में स्वीकार न करना कठिन है। इसके विरुद्ध दो तर्क दिये जा सकते हैं। एक तो यह कि धर्म, अर्थ आदि की तरह यश की प्रत्यक्ष कामना करना उचित नहीं माना जाता: यश के लिए यदि कोई कार्य किया जाए तो उसका मूल्य घट जाता है—दानादि के प्रसंग में शास्त्रों में यह बात बड़े ज़ोर से कही गयी है। काव्य की रचना भी यदि आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त यश के लिए की जाती है तो वह पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त नहीं होती। इसी के आधार पर दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि यश जीवन का मूल प्रयोजन नहीं है, आनुषंगिक उपलब्धि ही है: यश को लक्षित कर कोई कार्य नहीं किया जाता, कार्य की सिद्धि से यश उपलब्ध हो जाता है।—इन दोनों तर्कों

में निश्चय ही सार है, परन्तु यश के पक्ष में तर्क अधिक प्रबल हैं। यश, वस्तुतः, व्यक्तिगत सिद्धि की सामाजिक स्वीकृति है, अतः उससे व्यक्तिगत आत्मतोष का विस्तार हो जाता है और इस प्रकार वह अधिक प्रीतिकर तथा काम्य बन जाता है। यश की प्रच्छन्न कामना मनुष्य को सत्कर्म की ओर प्रेरित करती है : **दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः।**—अर्थात् पुण्य कर्म की प्रतिध्वनि पृथ्वी और आकाश में गूँजती रहती है।

(महाभारत : वनपर्व १९९।१३)

विलोम रूप से, अपयश का भय दुष्प्रवृत्तियों से उसकी रक्षा करता है। और, अन्त में, मनुष्य की सबसे बड़ी आकांक्षा—मृत्यु पर विजय का एकमात्र साधन यश ही है।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

(भर्तृहरि—नीतिशतक)

काव्यशास्त्र में भामह आदि आचार्यों ने इसी रूप में यश का मूल्यांकन किया है :

उपेयुषामपि दिवं सन्निबंधविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥ का० १.६॥
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत्कीर्तिरनश्वरी।
तावत्किलाय मध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम्॥ का० १.७॥

—स्वर्गस्थ हो जाने पर भी सत्काव्य के प्रणेताओं का सुन्दर काव्यमय शरीर निर्भय ही रहता है—अनश्वर बना रहता है। और जब तक कवि की अनश्वर कीर्ति पृथ्वी व आकाश में व्याप्त है, तब तक वह भाग्यवान् देव-पद को सुशोभित करता है।

मेरे विचार से उपर्युक्त तर्क प्रतिकूल तर्कों की अपेक्षा अधिक पुष्ट हैं, अतः यश की मूल्यवत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। दूसरा प्रश्न अब यह शेष रह जाता है कि इतना स्तवन होने पर भी यश का मूल्य के रूप में उल्लेख क्यों नहीं हुआ।—विशेषकर जब अर्थ को मूल्य माना गया है और पाश्चात्य मूल्यशास्त्र में स्वास्थ्य और क्रीड़ा आमोद को भी अवर मूल्यों के रूप में स्वीकार किया गया है, तो यह जिज्ञासा और भी प्रबल हो जाती है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि भारत के नीतिकारों ने धर्म, अर्थ, काम में और पश्चिम के शास्त्रवेत्ताओं ने सामाजिक मू यों में यश को अंत-

व्याप्त मानकर उसका स्वतंत्र उल्लेख नहीं किया। साथ ही, इस तथ्य का भी निषेध नहीं किया जा सकता कि स्वतंत्र मूल्य के रूप में यश की मुक्त स्वीकृति ख़तरे से ख़ाली नहीं है; जहाँ यश को प्राथमिक मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया वहीं सौन्दर्य, सदाचार आदि अन्य बृहत्तर मूल्य क्षीण होने लगते हैं। इसलिए कुल मिलाकर, यश को प्राथमिक मूल्य मानना तो संगत नहीं होगा, किन्तु सम्पूर्ण विश्व के काव्य तथा काव्यशास्त्र में बहुचर्चित इस 'पदार्थ' का प्रस्तुत प्रसंग में विचार अवश्य होना चाहिए।

निष्कर्ष

सौन्दर्य तथा अन्य जीवन-मूल्यों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में उपर्युक्त विवेचन का फलितार्थ इस प्रकार है :

१. भारतीय विचारकों का एक वर्ग ऐसा है, (जो सदा अल्पसंख्यक ही रहा है) जिसने सौन्दर्य को अपमूल्य माना है। इस वर्ग में निवृत्तिवादी दार्शनिक और कुछ स्मृतिकार आते हैं। अथर्ववेद के 'गोपथ' नामक ब्राह्मण में विप्रों के लिए संगीत सर्वथा निषिद्ध माना गया है : **तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येत् माम्लागृधः** ॥ २.२१ मनुस्मृति में संगीत (तौर्यत्रिक)—अथवा नृत्य, गीत और काव्य की गणना कामज व्यसनों के अन्तर्गत की गयी है और उन्हें वर्जनीय माना गया है :

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ मनु० ७-४७ ॥

इसी प्रकार राजशेखर ने भी कुछ विद्वानों के मत उद्धृत किये हैं जिन्होंने असत्य तथा असभ्य अर्थ की अभिव्यक्ति के कारण काव्य का विरोध किया है :

"असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इत्यपरे ।
तथा—**"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम् ।" इति च केचित् ।**

पाश्चात्य वाङ्मय में भी प्लेटो के पूर्ववर्ती ज़ेनोफ़नेस, पाइथोगोरस और हेराक्लिट्स आदि दार्शनिकों ने असत्य तथा अनीति के प्रचार के लिए होमर के काव्य की भर्त्सना की थी। प्लेटो ने दर्शन और कविता के इसी 'पुराने विवाद' की ओर इशारा किया है। बाद में भी यह स्वर बार-बार मुखर होता रहा और सिडनी, शैले आदि अनेक आलोचकों को कविता के पक्ष में निबन्ध लिखने पड़े। भारत में, आधुनिक युग में भी अनेक नीतिवादी विचारक सौन्दर्य को अपमूल्य ही मानते हैं—स्वामी दयानन्द ने उपर्युक्त दोनों कारणों से रघुवंश, रामचरितमानस आदि को अपाठ्य ग्रंथों की सूची में रख दिया है।

२. दूसरा वर्ग उन चिंतकों का है जो सौन्दर्य को आध्यात्मिक, सामाजिक-नैतिक आदि बृहत्तर मूल्यों के अधीनस्थ मानते हैं। रामायण और विशेषकर महाभारत का यही मत है। उपनिषत् काल में लययोग को योग-साधन के उपाय रूप में स्वीकार किया गया है। वैष्णव रसवादी भी इसी दृष्टि से काव्य-रसों को भक्तिरूपी चिन्मय रस के पोषक अंग मानते हैं। पश्चिम के आचार्यों में पुराकाल में प्लेटो और परवर्ती युग में स्टुअर्ट मिल, बैंथम आदि प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों का यही मत था कि 'सर्वाधिक मनुष्यों का सर्वाधिक कल्याण' ही कला का उद्देश्य है। कला और साहित्य के क्षेत्र में रस्किन तथा टॉलसटॉय आदि ने इसी मत का प्रतिपादन किया है—और आधुनिक युग में महात्मा गांधी का भी यही विचार था। इधर मार्क्सवादी जीवन-दर्शन मानव-समाज के भौतिक उत्कर्ष को प्रमाण मानता है और सौन्दर्य-मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के अंग रूप में ही स्वीकार करता है।

३. फिर भी, बहुमत प्रायः यही है कि सौन्दर्य एक स्वतंत्र मूल्य है। भामह से लेकर जगन्नाथ तक सभी ने काव्य को शब्दार्थ का व्यापार माना है: शब्द-अर्थ के कलात्मक प्रयोग द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करना कवि का प्राथमिक कर्तव्य है। अतः मूलतः काव्य या कला सौन्दर्य की सृष्टि है जिसका अपने इस सौन्दर्य-तत्त्व के कारण ही अन्य व्यापारों से पृथक् अस्तित्व है। इसीलिए मम्मट जैसे व्यावहारिक आलोचक और कुंतक जैसे कलामर्मज्ञ ने सौन्दर्य से उद्भूत सद्यःपरनिर्वृति अथवा अंतश्चमत्कार को काव्य की मौलिभूत उपलब्धि माना है। किन्तु, स्वतन्त्र मूल्य होने पर भी सौन्दर्य की सत्ता निरपेक्ष नहीं है: वह जीवन के अन्य बृहत्तर मूल्यों के साथ—पुरुषार्थ अथवा, आधुनिक शब्दावली में आध्यात्मिक तथा नैतिक-सामाजिक मूल्यों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। इस विषय में भारतीय काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र तथा कलाशास्त्र आदि सभी एकमत हैं। इन बृहत्तर मूल्यों के अनुबंध से ही सौन्दर्य को गरिमा और स्थायित्व प्राप्त होता है। वास्तव में, सौन्दर्य काव्य-कला का आन्तरिक मूल्य है—उसके बिना काव्य-कला की सत्ता ही नहीं रहती; किन्तु जीवन के व्यापक परिवेश के साथ सम्बद्ध होने के लिए उसे अन्य बृहत्तर मूल्यों से सम्बद्ध होना पड़ेगा। शब्दार्थ के अंगभूत अर्थ का विकास बृहत्तर मूल्यों के सम्पर्क से ही होता है और अर्थ के विकास के साथ-साथ शब्द की शक्ति का विकास भी अनिवार्यतः होता चलता है: इस प्रकार, सौन्दर्य स्थायी गरिमा से मंडित होकर भव्यतर रूप धारण कर लेता है, और लालित्य एवं माधुर्य से ऊपर उठकर सत्यं एवं शिवं के समकक्ष प्रतिष्ठित हो जाता है। यही भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिनिधि मत है और यही मत शुद्ध एवं तर्कसंगत है।

४. भारतीय विचारकों में वामन ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्हें सौंदर्य-

वादी इस अर्थ में कहा जा सकता है कि उन्होंने शब्द-अर्थ की निर्मिति अथवा रचना में ही सौन्दर्य की सत्ता मानी है और अन्य जीवन-मूल्यों के साथ उसके संबंध का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया। फिर भी, वामन का सौन्दर्यवाद विवेक की परिधि के भीतर ही रहा है। पश्चिम के नये समीक्षकों की तरह वह अतिवाद से ग्रस्त नहीं हुआ। उन्होंने सौन्दर्य को अन्विति का सत्य माना है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु जीवन के साथ उसके संवाद का निषेध वामन ने नहीं किया। 'कविता अन्विति का सत्य है, संवादिता का नहीं।' (क्लींथ ब्रुक्स)।—इस मंतव्य का विधि पक्ष वामन को यथावत् ग्राह्य था, किन्तु निषेध पक्ष को स्वीकार करना उनके लिए संभव नहीं था। उनके अर्थगुण-वर्ग के अनेक गुणों का जीवन के सांस्कृतिक-नैतिक मूल्यों के साथ संवाद है। उदाहरण के लिए —१. अर्थगुण सौकुमार्य में अप्रिय अथवा अशुभ अर्थ के निरूपण में सौन्दर्यचेता कवि अप्रिय एवं अशुभ अर्थ के वाचक शब्दों को कुशलता से बचा जाता है: 'मृत' शब्द का प्रयोग न कर 'यशःशेष' पद का प्रयोग करता है; और २. उदारता नामक अर्थगुण में संकोच अथवा लज्जा के प्रसंग का कथन अत्यन्त शालीनता के साथ करता है।—कहने का अभिप्राय यह है कि वामन सौन्दर्य को स्वतन्त्र मूल्य मानते हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि मूल्यों के साथ उसके प्रत्यक्ष संबंध का आग्रह नहीं करते; किंतु जीवन के साथ सौन्दर्य का कोई संवाद ही नहीं है, ऐसी हास्यास्पद अवधारणा को वे स्वीकार नहीं करते।

इस प्रसंग में एक अन्तिम प्रश्न यह उठता है कि क्या ये मूल्य अपने में स्वतंत्र हैं, या परस्पर सम्बद्ध—और क्या इन समस्त मूल्यों का भी कोई मूल्य है जिसे जीवन का चरम मूल्य—मूल्यों का मूल्य—माना जा सके? महाभारत में यह प्रश्न उठाया गया है और व्यास ने त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, और काम में धर्म को चरम मूल्य माना है। धर्म सार्थक जीवन अथवा उसके संप्रत्यय का वाचक है। महाभारत से पूर्व उपनिषद् में आनन्द को चरम मूल्य घोषित किया जा चुका है और अद्वैत दर्शन विशेषकर शैवाद्वैत में तथा वैष्णव आगम ग्रंथों में आनन्द को ही परमपुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है। आधुनिक युग में मानववाद के विकास के फलस्वरूप मानव-मूल्यों की संकल्पना की गयी है और उन्हें ही समस्त मूल्यों का आधार माना गया है। मानव विश्व का सर्वश्रेष्ठ रूप है अतः उसकी अस्तित्व-रक्षा ही जीवन का प्राथमिक मूल्य है। ये तीनों ही संकल्पनाएँ अत्यंत प्रबल तथा मूलवती हैं और इनमें से किसी का निषेध करना संभव नहीं है। इसमें क्या संदेह हो सकता है कि समस्त मूल्य-विचार का केन्द्रबिन्दु है मानव—**नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।** अतः मानव-मूल्य केन्द्रीय मूल्य हैं—इसका निषेध कौन कर सकता है? किन्तु मानव जैविक घटक मात्र नहीं है, वह तो चेतना की सम्पूर्ण बौद्धिक, रागात्मक तथा

ऐन्द्रिय विभूतियों से सम्पन्न व्यक्तित्व का ही नाम है जो प्राकृतिक परिवेश में अपना विकास करता है—और इसी विकास का नाम जीवन है। अतः 'मानवत्व ही चरम मूल्य है' और 'जीवन ही चरम मूल्य है', इन दोनों अवधारणाओं में तात्त्विक भेद नहीं है। किन्तु जिस प्रकार मानव जैविक घटक मात्र नहीं है, इसी प्रकार जीवन केवल जैविक अस्तित्व नहीं है। जीवन से अभिप्राय है यहाँ सार्थक जीवन। सार्थक विशेषण लगते ही जीवन का संबंध धर्म के साथ जुड़ जाता है, क्योंकि धर्म वह तत्त्व है जो जीवन को धारण करता है—ध्रियतेऽनेन इति धर्मः'—अथवा जिससे जीवन में ऐहिक अभ्युदय और आमुष्मिक सिद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यापक एवं तात्त्विक रूप में मानवत्व, जीवन तथा धर्म परस्पर-सम्बद्ध मूल्य हैं—या यह कहें कि एक ही चरम मूल्य के अलग-अलग पहलू हैं। मानव-व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का नाम ही जीवन है, और जीवन की साथकता ही धर्म है। अब फिर प्रश्न उठता है कि क्या इसके बाद कुछ नहीं है। क्या जीवन की सार्थकता का कोई फलितार्थ नहीं होता? मेरा विवेक कहता है फलितार्थ होता है और वह है आनन्द। सार्थकता का अर्थ है आत्मलाभ[1]—परिवेश अथवा अनात्म के माध्यम से मानव-व्यक्तित्व का आत्मलाभ ही तो जीवन की सार्थकता है; और, अनुभूति के स्तर पर यह आत्मलाभ ही आनन्द है। अतएव चरम मूल्य आनन्द ही है जो व्यष्टि तथा समष्टि के स्तर पर मानव-कल्याण अथवा जीवन की सार्थकता की सुखमय अनुभूति का नाम है। इस आनन्द का व्यक्त या गोचर रूप ही सौन्दर्य है: आनन्द फल है तो सौन्दर्य फूल।

□ □

१. फ़ुलफ़िलमेंट

अध्याय : आठ

उपसंहार

१. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की विकास-रेखा

प्रस्तुत ग्रंथ में हमने, अनेकत्र बिखरे हुए संकेत-सूत्रों का संयोजन कर, भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य-चिन्तन के विकास का, ऐतिहासिक क्रम से, निरूपण किया है। भारतीय वाङ्मय से हमारा अभिप्राय संस्कृत-वाङ्मय का ही है जो समस्त भारतीय भाषाओं का मूल आधार है। यद्यपि भारतीय वाङ्मय में स्वतंत्र अनुशासन के रूप में सौन्दर्य-शास्त्र का विकास नहीं हुआ, फिर भी सौन्दर्य-चिंतन की प्रौढ़ परम्परा यहाँ आरम्भ से ही मिलती है।

इस सर्वेक्षण के फलस्वरूप हमें निम्नोक्त निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

(क) सौन्दर्य शब्द और उसके पर्याय

(i) संस्कृत वाङ्मय में सौन्दर्य के चारुत्व, वैचित्र्य, शोभा, कान्ति, सौष्ठव, रमणीयता, लालित्य, लावण्य, आदि—और सुन्दर के चारु, चित्र, सुषम, शोभन, कान्त, रुचिर, मनोरम, सुष्ठु, रमणीय, तथा ललित आदि अनेक पर्याय मिलते हैं। सौन्दर्य शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। वैदिक साहित्य में सुन्दर तथा सौन्दर्य शब्दों का प्रयोग नहीं है, किन्तु प्रिय, पेशस्, चित्र, रण्व, भद्र, मधुर, आदि का प्रचुर प्रयोग है। सुन्दर शब्द का प्रयोग सबसे पहले रामायण में हुआ है और उसके बाद महाभारत में भी, किन्तु वह अत्यन्त विरल है।

(ii) कलाशास्त्र में भी प्रायः उपर्युक्त शब्द ही मिलते हैं। सौन्दर्य के लिए रूप, शोभा, विच्छत्ति, वैचित्र्य आदि, और सुन्दर के लिए रम्य, रम-

णीय, मनोज्ञ, मनोहर, चित्र, चारु आदि। सुन्दर शब्द का प्रयोग भी है, परन्तु उसे कोई पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं है।

(iii) काव्यशास्त्र में वामन, कुंतक आदि ने सौन्दर्य का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है, किन्तु सब मिलाकर यहाँ भी उसकी अपेक्षा शोभा, रमणीयता, चारुता आदि शब्दों का प्रचलन ही अधिक है। इनके अतिरिक्त भारतीय आचार्यों ने काव्य अथवा कला के सौन्दर्य के लिए अपने कुछ विशिष्ट शास्त्रीय शब्दों की प्रकल्पना भी की है: जैसे रस या चमत्कार, ध्वनि, अलंकार, वक्रता आदि।

सारांश यह है कि भारतीय वाङ्मय में 'सौन्दर्य' शब्द को तो अपने आप में कभी विशिष्ट महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु उसके अनेक पर्यायों का मुक्त प्रयोग आरम्भ से होता आया है। पर्यायों की यह समृद्ध परम्परा भारतीय मनीषी की प्रबुद्ध सौन्दर्य-कल्पना की परिचायक तो है ही, साथ ही इन शब्दों की व्युत्पत्ति में सौन्दर्य के विविध तत्त्वों एवं धर्मों की इतनी सार्थक व्यंजना निहित है कि इनके अर्थ-विश्लेषण द्वारा भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की मौलिक अवधारणाओं को सूत्रबद्ध किया जा सकता है।

(ख) सौन्दर्य-विवेचन

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य का विवेचन दो रूपों में किया गया है: १. सौन्दर्य का सामान्य विवेचन और २. कलात्मक सौन्दर्य का विवेचन।

सौन्दर्य का सामान्य विवेचन

(क) सामान्य रूप में सौन्दर्य-विषयक प्रायः समस्त अवधारणाओं के संकेत विविध पर्यायों की व्युत्पत्ति में ही मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए:—

(i) सौन्दर्य एक गोचर तत्त्व है; सुन्दर में सुदर्शन या नयनाभिराम का भाव निहित है और शोभा में गोचर आभा का।

(ii) सौन्दर्य वस्तु या आलम्बन का गुण है किन्तु वह प्रमातृ-सापेक्ष है; रुचिर और चारु में प्रमाता की चेतना का परितोष व्यंजित है।

(iii) सौन्दर्य के मूल में कामना या प्रेम की भावना प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में विद्यमान रहती है। मनोज्ञ, कान्त, रमणीय आदि शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

(iv) सौन्दर्य में अंग-साम्य या सामंजस्य की भावना निहित है। सुष्ठु शब्द से इसका बोध होता है।

(v) प्राकृतिक ऐश्वर्य और जीवन के उल्लास से स्फूर्त वैदिक साहित्य की शत-शत ऋचाओं में रूप और रस का अपूर्व वर्णन है। मंत्र-द्रष्टा वैदिक-कवि के अनुसार सौन्दर्य मूलत: ऐन्द्रिय प्रतीति का विषय है और कान्ति, वर्ण तथा ऊर्जा उसके प्रमुख तत्त्व हैं। किन्तु सौन्दर्य के मानस रूप का भी वैदिक ऋचाओं में बार-बार उतने ही आग्रह से निरूपण किया गया है। सौन्दर्य आह्लादकारी है, मधुर है, स्फूर्तिप्रद है, चिर-नवीन है, पवित्र और दिव्य है। —उपनिषद् में सौन्दर्य के जिस रूप का वर्णन अथवा अप्रत्यक्ष विवेचन है, उसके दो लक्षण हैं—प्रकाश और आनंद : गोचर रूप में वह प्रकाश रूप है और अनुभूति के स्तर पर आनन्द रूप। इन्हीं के आधार पर आगे चलकर रस को 'स्वप्रकाशानन्द' माना गया है।

(ख) रामायण में आदिकवि ने सौन्दर्य के सभी रूपों का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। प्रकृति के संदर्भ में सौन्दर्य के प्रमुख तत्त्व हैं : वर्ण-वैभव, रीति, औज्ज्वल्य एवं निर्मलता, वैचित्र्य और नवीनता, सुख-स्पर्शता तथा सद्यस्कता ;—और मानवीय सन्दर्भ में उसके विशेष गुण हैं : अंग-सामंजस्य, सुडौल रचना, कान्ति, समृद्धि तथा अलंकार।

(ग) महाभारत में काव्य-तत्त्व की अपेक्षा इतिहास-तत्त्व की प्रधानता है, फिर भी उसके वैविध्यपूर्ण वर्णनों में सौन्दर्य के इन्द्रिय-गोचर तथा मनोगोचर दोनों रूपों का सम्यक् निरूपण हुआ है। प्रकृति के चित्रों में उपर्युक्त सभी तत्त्वों का उल्लेख है। मानवीय सौन्दर्य के प्रसंग में महाभारत के कवि ने अंगों के रूप-सौभाग्य को जीवन की अमूल्य उपलब्धि माना है और इस रूप-सौभाग्य के आधारभूत तत्त्व हैं—समानुपातिक अनवद्य अंग-सम्पत्ति, पुरुष के सन्दर्भ में आंतरिक तेज, और नारी के संदर्भ में वर्णकान्ति, सौकुमार्य आदि। अलंकार रूप-यौवन की श्रीवृद्धि करते हैं, अत: वे भी सौन्दर्य के प्रसाधन हैं। किन्तु सौन्दर्य के वे नित्यधर्म नहीं हैं क्योंकि सहज सौन्दर्य का आकर्षण अलंकार पर निर्भर नहीं करता।

इसके अतिरिक्त गीता के विराट् रूप-प्रसंग में हमें अप्रत्यक्ष रूप से सौन्दर्य-शास्त्र के एक मौलिक सिद्धांत का संकेत मिलता है—'सौन्दर्य की अनुभूति के लिए पदार्थ के गोचर रूप के साथ प्रमाता की ऐन्द्रिय चेतना का सामंजस्य और उसके फलस्वरूप चित्तवृत्ति का समीकरण आवश्यक है। पदार्थ का गोचर-रूप जब इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति का अतिक्रमण कर जाता है तो सामंजस्य भंग हो जाने से चित्त की समाहिति नष्ट हो जाती है—और चित्त की यह विकलता ही सौन्दर्यानुभूति की सबसे बड़ी बाधा है[१]।'

१. देखिए पृष्ठ ५३।

(घ) महाकाव्य-युग का परवर्ती अभिजात-संस्कृत-काव्य सौन्दर्य का अक्षय कोश है, जिसमें समृद्ध वर्णन के अतिरिक्त तत्त्वचिंतन के सम्बन्ध में भी अनेक मार्मिक संकेत मिलते हैं। सौन्दर्य के स्वरूप के विषय में—**क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः** (माघ) आदि सूक्तियाँ, निर्मिति के संदर्भ में कालिदास के '**चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगा, रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।**'—आदि प्रसिद्ध छन्द, और अनुभूति के सम्बन्ध में कालिदास, भवभूति आदि के कथन कारयित्री प्रतिभा के उद्‌गीथ होने के कारण भारतीय सौन्दर्य-दर्शन की अमूल्य सम्पत्ति हैं।

(ङ) भारतीय दर्शन में सौन्दर्य का प्रत्यक्ष तत्त्व-विवेचन नहीं है। पश्चिम के दार्शनिकों ने जहाँ आरम्भ से ही सौन्दर्य के व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप का विचार किया है वहाँ भारत के तत्त्ववेत्ता का ध्यान मूलतः सौन्दर्य के स्थान पर उसके आस्वाद अर्थात् आनन्द पर ही केन्द्रित रहा है। फिर भी, विभिन्न दर्शनों के ऐसे अनेक सिद्धांत-सूत्र हैं जिनका सौन्दर्य-दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

(च) भक्ति-साहित्य में दिव्य सौन्दर्य की प्रकल्पना की गयी है। भगवान् का त्रैलोक्य-सुन्दर स्वरूप विश्व-सौन्दर्य का सार-सर्वस्व है, और वह सौन्दर्य चिन्मय रति का विषय है। वैदिक साहित्य में भी ईश्वर के स्वरूप को विश्वसौन्दर्य का प्रतीक और उद्‌गम माना गया है; किन्तु वह दिव्य सौन्दर्य अमूर्त्त है, प्रतीकात्मक है। भक्ति-साहित्य में इसी दिव्य सौन्दर्य को गोचर एवं मानवीय रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। दिव्य सौन्दर्य की यह सगुण-कल्पना भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के विकास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह **धार्मिक सौन्दर्यशास्त्र** भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का एक विशिष्ट अंग है; विश्व के धार्मिक साहित्य में इस प्रकार की सांगोपांग कल्पना अन्यत्र नहीं मिलती।

कलागत सौन्दर्य का विवेचन

(i) भारतीय वाङ्मय में कलागत सौन्दर्य का विवेचन भी, संकेत रूप में, प्रायः आरम्भ से ही मिलता है। वेदों में 'कला' शब्द का शास्त्रीय अर्थ में प्रयोग तो नहीं है, परंतु काव्य, संगीत (गीत-वाद्य-नृत्य) चित्र, मूर्ति तथा वास्तु—सभी ललित कलाओं के प्रचुर उल्लेख सर्वत्र बिखरे हुए हैं। वाणी के सौंदर्य—काव्य-कला का अनेक स्थलों पर विवेचन हुआ है, जहाँ सौन्दर्यशास्त्र के प्रायः सभी अंगों—(१) सौन्दर्य के स्वरूप—मानस और चाक्षुष, दिव्य और लौकिक, (२) प्रेरणास्रोत, (३) सौन्दर्यानुभूति, (४)

प्रयोजन और (५) उपकरणों—शब्द, अर्थ, अलंकार, लय, छंद आदि—का सूत्रबद्ध किन्तु मार्मिक विश्लेषण किया गया है। वेदों में संगीत (नादब्रह्म) का विस्तार के साथ विवेचन है जिसके आधार पर बाद में संगीत-कला और संगीतशास्त्र का विकास हुआ। उधर रूपविधायक कलाओं (प्लास्टिक आर्ट्स) —अर्थात् स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि का भी यथास्थान उल्लेख है, किंतु वैदिक ऋषि मानव-शिल्प की अपेक्षा देव-शिल्प के प्रति अधिक अनुरक्त था—अतः इन कलाओं का विवेचन अपेक्षाकृत कम है। विशेषज्ञों के मत से वेदों के कुछ कला-प्रतीकों—पूर्णकुम्भ, कल्पवृक्ष, देवासुर, श्री-लक्ष्मी आदि—का परवर्ती युगों में भारतीय स्थापत्य-चित्र-मूर्ति आदि कलाओं के निरूपण तथा विवेचन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

(ii) रामायण और महाभारत में सभी ललित कलाओं का अनेक प्रसंगों में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य-युग में काव्यकला के साथ ही भारत की स्थापत्य-मूर्ति-चित्र तथा संगीत-नृत्य आदि कलाओं का काफ़ी विकास हो चुका था। इन प्रसंगों में अन्विति, समविभाग, वर्णच्छटा, समृद्धि, अलंकार, मुक्त प्रसार, जीवन्तता आदि प्रायः सभी कलातत्त्वों का प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से निरूपण किया गया है। कला मूलतः मानसी सृष्टि है और कलाकार के अभिप्राय को मूर्तित करने में ही उसकी सार्थकता है : कला के इस रहस्य का प्रकाशन रामायण और महाभारत दोनों में ही अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में हुआ है। गांधर्वतत्त्व अर्थात् संगीत-विद्या के संदर्भ में सम, ताल, लय आदि पारिभाषिक शब्दों का बार-बार उल्लेख है, और काव्यकला के तत्त्व-विवेचन के विषय में भी कुछ प्रत्यक्ष संकेत मिलते हैं। रामायण का आदि छंद अत्यंत प्रभावी शैली में इस मौलिक सत्य का उद्घाटन करता है कि काव्य-कला का प्रेरक तत्त्व भाव है—आवेग के प्रभाव या दबाव से भाषा में लय का संचार हो जाता है और उसी से छंद की सृष्टि होती है।

(iii) संस्कृत के अभिजात काव्य में, कालिदास, बाण, भवभूति, श्रीहर्ष तथा सुबन्धु आदि की रचनाओं में, काव्य-नाट्य, नृत्य-गीत तथा चित्र आदि कलाओं के विषय में अनेक पारदर्शी वक्तव्य मिलते हैं। कालिदास ने रसाभिव्यक्ति का मार्मिक विश्लेषण किया है,[1] भवभूति ने भाव-सौन्दर्य के प्रतीक रस के स्वरूप एवं अखण्डता का[2] और बाण ने काव्यकला के मूल तत्त्वों

१. श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। [रघुवंश, १३]

२. उत्तररामचरितम्, ३. १३ ; ३.४७।

का[1]। इन सभी कवियों ने काव्य के आस्वाद और समीक्षा के भेद तथा द्वन्द्व की ओर भी कहीं-कहीं बड़े तीखे शब्दों में संकेत किया है।

(iv) भारतीय दर्शन में यद्यपि कलाओं के विवेचन के लिए कभी कोई स्थान नहीं रहा, फिर भी कलाशास्त्र तथा साहित्यविद्या दोनों ने अनेक दार्शनिक प्रतिपत्तियों से महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त किये हैं। उदाहरण के लिए योग-दर्शन के 'संस्कार' स्वरूप-निर्णय का प्रभाव रस-सिद्धांत के स्थायिभाव-विवेचन पर और प्रज्ञा के स्वरूप-निर्णय का प्रभाव प्रतिभा के विवेचन पर स्पष्ट है। न्यायदर्शन के ज्ञान तथा प्रमा के भेदों के अन्तर्गत 'स्मृति' और 'उपमिति' आदि के विवेचन का, और उधर सांख्य-प्रतिपादित 'रूप' आदि के लक्षणों का भी सौंदर्य-चिन्तन में सम्यक् उपयोग किया गया है। वेदांत ने कलादर्शन को तीन मौलिक सिद्धांत दिये हैं: (क) कला का स्वरूप सदसद्विलक्षण अर्थात् जागतिक पदार्थ-रूपों से भिन्न होता है। (ख) कला की प्रतीति प्रातिभासिक होती है, व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं। और (ग) अभिव्यक्ति तत्त्वतः अखण्ड होती है; उद्देश्य और विधेय, अलंकार्य और अलंकार आदि में उसके विभाग नहीं किये जा सकते।

(v) भारतीय कलाशास्त्र की परम्परा अत्यंत प्राचीन एवं समृद्ध है। उसमें सौन्दर्यशास्त्र के सभी अंगों—कलाओं के लक्षण और स्वरूप-विवेचन, अंतःसम्बन्ध, विषय-वस्तु, दिव्य और ऐहिक प्रेरणा, प्रयोजन तथा माध्यम-उपकरण आदि का यथास्थान विवेचन किया गया है। किन्तु इन ग्रंथों में विविध कलाओं की प्रविधि-प्रक्रिया तथा रीति-रूढ़ियों का वर्णन ही विस्तार के साथ मिलता है, कलागत सौन्दर्य का तत्त्व-विवेचन अधिक नहीं है। सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कलाओं का अंतःसम्बन्ध जिसका स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम विष्णुधर्मोत्तरपुराण में हुआ है। अनुक्रम, सममिति, सादृश्य-विधान कला-सौन्दर्य के आवश्यक तत्त्व हैं, किन्तु उसका प्राण है रस—इसीलिए वास्तु, चित्र, मूर्ति तथा संगीत आदि सभी कलाओं के संदर्भ में रसों और रस-दृष्टियों का विशद वर्णन हुआ है। कला के उद्देश्य अथवा प्रयोजन के विषय में भारतीय आचार्य का दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय कलाओं के विकास में धार्मिक प्रेरणा अत्यन्त बलवती रही है: वास्तु-कला की साधना वास्तुब्रह्म की, तथा संगीत की साधना नादब्रह्म की उपासना के रूप में की गयी है, और चित्र-मूर्ति-कला की उद्भावना अरूप ब्रह्म को रूपायित करने के निमित्त हुई है। परन्तु ऐहिक स्तर पर भी कला के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की गयी: कला को नागर-जीवन का

१. ह० च०, १. ८।

अलंकार माना गया है, उससे सुख और समृद्धि का संचार और अभिरुचि का परिष्कार होता है।

कुल मिलाकर भारतीय कलाशास्त्र का दृष्टिकोण रीतिबद्ध ही है जिस में कलाकार के व्यक्तिगत रुचि-संस्कार की अपेक्षा शास्त्र को ही प्रमाण माना गया है। काव्यशास्त्र का परवर्ती होने के कारण इसने रस, ध्वनि तथा अलंकार सिद्धान्तों का प्रभाव मुक्त रूप से ग्रहण किया है, अत: तत्त्व-विवेचन के क्षेत्र में काव्यशास्त्र की अपेक्षा कोई नवीन अथवा मौलिक उद्भावना इसमें नहीं है। यद्यपि वास्तु, चित्र, मूर्ति, गीत, नृत्य आदि समस्त कलाओं का प्राय: एक ही ग्रंथ के अन्तर्गत वर्णन किया गया है, किन्तु मूलत: विविध कलाओं का अन्त:सम्बन्ध स्वीकार करने पर भी, तत्त्व-विवेचन की अपेक्षा प्राविधिक विवरण पर अधिक बल होने के कारण, समस्त कलाओं के आधारभूत सिद्धांतों का निर्वचन करने वाले एक समन्वित अथवा समेकित कलाशास्त्र की प्रकल्पना सम्भव नहीं हो सकी।

(vi) भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का मूल आधार तथा केन्द्र है—काव्यशास्त्र। इसमें अन्य कलाओं का विवेचन तो प्राय: नहीं है—अधिक से अधिक काव्य के उपजीव्य रूप में अथवा कहीं-कहीं दृष्टान्त रूप में उनका उल्लेखमात्र है, किन्तु शब्द-अर्थ के माध्यम से व्यक्त सौन्दर्य का जैसा परिपूर्ण एवं सूक्ष्म-गहन तत्त्व-विवेचन यहाँ हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सौन्दर्यशास्त्र के जिन मौलिक तथ्यों की उद्भावना, अपने विकसित ज्ञान-विज्ञान के बल पर, पश्चिम के आचार्य आज कर रहे हैं, उनका साक्षात्कार भारतीय प्रतिभा ने अपनी सहजानुभूति के द्वारा आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व कर लिया था।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि सिद्धांतों का विकास सौन्दर्यतत्त्व की ही अनवरत खोज का परिणाम है। इन सभी के माध्यम से भारतीय मनीषा ने सौन्दर्य के स्वरूप, मूल तत्त्व, आस्वाद, प्रयोजन और मूल्य, माध्यम-उपकरण आदि का तलस्पर्शी विश्लेषण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्यशास्त्र का सौन्दर्य-विवेचन शब्द-अर्थ के माध्यम तक ही सीमित है, किन्तु फिर भी उसकी मौलिक प्रतिपत्तियाँ इतनी सार्वभौम हैं कि अन्य कलाओं के लिए भी वे समान रूप से उपयोगी एवं सार्थक हैं।

अत: इस सन्दर्भ में हमारा यह मत है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा का निर्माण काव्यशास्त्र को केन्द्र में रखकर ही किया जा सकता है: और, इसमें कोई वैचित्र्य नहीं है क्योंकि पश्चिम में भी ऐसा ही हुआ है। इसके अन्य आधार-स्रोत हो सकते हैं: भारत की समृद्ध काव्य-परम्परा जिसमें सौन्दर्य के सभी रूपों और तत्त्वों का शतश: भंगिमाओं में निरूपण किया गया

है, भारतीय दर्शन—विशेष रूप से शैवाद्वैतवाद, सगुण भक्ति-साहित्य का उज्ज्वल-रस-विधान, और कलाशास्त्रीय ग्रंथ।—किन्तु ये अन्य आधार-स्रोत एक सीमा तक ही उपयोगी हो सकते हैं, क्योंकि इनकी प्रायः सभी मौलिक अवधारणाओं का उपयोग काव्यशास्त्र पहले ही कर चुका है।

२. सौन्दर्य-विषयक भारतीय तथा पाश्चात्य अवधारणाएँ : तुलनात्मक विवेचन

पूर्ववर्ती विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय तथा पाश्चात्य सौन्दर्य-दर्शन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष चिंतन-पद्धतियों का भेद होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से विशेष मौलिक अंतर नहीं है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की भाँति, भारतीय सौन्दर्य-चिंतन में भी सौन्दर्य के दिव्य एवं लौकिक रूपों का प्रचुर वर्णन-विवेचन मिलता है; साथ ही उसकी आत्मवादी, भाववादी तथा रूपवादी व्याख्याएँ, और व्यक्तिनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ तथा उभयनिष्ठ स्वरूप, रूपाकृति एवं सौन्दर्य-दृष्टि आदि के विषय में भी प्रचुर संकेत उपलब्ध होते हैं।

दिव्य सौन्दर्य—आत्मवादी व्याख्या

भारतीय वाङ्मय के अंतर्गत वैदिक ऋचाओं तथा परवर्ती भक्ति-साहित्य में दिव्य सौन्दर्य का अत्यंत मार्मिक विश्लेषण किया गया है। यूरोप के प्राचीन सौन्दर्य-चिंतक प्लोटिनस का मत है कि मानव आत्मा अपने मूल उद्गम—उस परम तत्त्व से मिलने के लिए व्यग्र रहती है जो शिव और सुन्दर का आधार-स्रोत है। उस परम सुन्दर के साथ तादात्म्य की यही अभिलाषा सौन्दर्य-चेतना का रहस्य है—अर्थात् सौन्दर्य-भावना एक आध्यात्मिक अनुभूति या रहस्यानुभूति है—वह दिव्य चेतना अथवा चिति की गोचर अभिव्यक्ति या ऐन्द्रिय प्रतीति है। वेद की अनेक ऋचाओं में, उपनिषद् में तथा शैव दर्शन में यह धारणा विविध प्रकार से, अत्यन्त सरस शब्दावली में व्यक्त की गयी है। उपनिषद् में ब्रह्म को अमृत, आनन्दरूप और हिरण्मय कहा गया है—शैव दर्शन में चिति का आभास अथवा प्रतिबिम्ब होने के कारण संसार को चिर सुन्दर माना गया है। इस धारणा की चरम परिणति मिलती है वैष्णव सगुण-भावना में। वेद और उपनिषद् में परोक्ष सत्ता के दिव्य सौन्दर्य का—उसके हिरण्मय तथा अमृत रूप का जो स्तवन किया गया है वह अत्यन्त रमणीय होने पर भी अमूर्त और अगोचर है। सगुण कल्पना ने उसे समस्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य के साथ गोचर रूप में प्रस्तुत किया है—योगेश्वरों

के हृदय में स्थित यह अनंत ऐश्वर्यमय ब्रह्म यहाँ त्रैलोक्य की श्रीसम्पदा से युक्त गोचर रूप—शरीर, धारण कर लेता है :

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो,
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित—
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ।।

—योगेश्वरों के हृदय में वर्तमान वे अनन्त ऐश्वर्यमय भगवान् वहाँ बैठ गये और त्रैलोक्य की श्री-सम्पदा से युक्त शरीर धारण किए हुए, गोपियों की सभा में उनके द्वारा सेवित तथा अर्चित होकर अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुए। (श्रीमद्भागवत १४:२९.१४) ।

भाववादी व्याख्या

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य की भाववादी व्याख्या के भी प्रचुर संकेत विद्यमान हैं। सुन्दर के अनेक पर्याय ऐसे हैं जो शुद्ध रूप से भावमूलक हैं। वेद में वल्गु शब्द सुन्दर का पर्याय है : सायण के अनुसार वल्गु का अर्थ है रुचिर एवं प्रीतिकर—**वल्गु: रुचिरा प्रीतिजननी स्यात्** । वैदिक ऋषि ऋचा को हृदय द्वारा निर्मित मानता है : **ऋचा हविः हृदा तष्टम्** ५.१६.४७ । रामायण और महाभारत में सुन्दर को प्रियदर्शन भी कहा गया है : **सुन्दर्यः प्रियदर्शनाः** (महाभारत भीष्म पर्व ८.१६) । कुछ पर्याय तो एकान्त रूप से इच्छा से ही व्युत्पन्न हैं। उदाहरण के लिए—**अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यं दयितं वल्लभं प्रियम्** (अमरकोश)—जो प्रीतिकर है वही सुन्दर है। १. कालिदास ने कुमारसंभव में इस तथ्य को अत्यन्त मार्मिक रूप से व्यक्त किया है :

अलं विवादेन यथा श्रुतं त्वया, तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं, न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।। ५.८२

—विवाद करने से क्या लाभ ? जैसा आपने सुना है, शिव बिल्कुल वैसे ही हैं। किन्तु मेरा मन तो उनके प्रति भावैकरस होकर स्थित हो गया है। प्रेम किसी के कहने-सुनने की अपेक्षा नहीं करता।

जैसी कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्थापना है, यह भावैकरसता रूप या सौन्दर्य का प्राणतत्त्व है। इसीलिए तो कवि ने चारुता या सौन्दर्य का प्रत्यक्ष संबंध प्रिय को अनुरक्त करने की क्षमता के साथ माना है :

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता । (कु० सं० ५१)[1]

१. देखिए कालिदास की लालित्य-योजना, पृ० ६९।

कामसूत्र में कला (सौन्दर्य) और काम का प्रत्यक्ष सम्बन्ध माना गया है । २. कालिदास ने सौन्दर्य और काम के इसी सहज सम्बन्ध का काव्यमय शैली में वर्णन किया है :

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गंडेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु ।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनंगो बहुधा स्थितोऽद्य ॥

—अर्थात् मदिरालस नेत्रों में चंचल, गण्डस्थल में पाण्डुवर्ण, वक्षःस्थल में कठिन, कटि में क्षीण और जंघाओं में पीन होकर वह काम स्त्रियों के अंगों में नाना रूपों में व्याप्त रहता है । काव्यशास्त्र में सम्पूर्ण रस-सिद्धान्त ही सौन्दर्य की भावमूलक व्याख्या का बृहद् अनुष्ठान है—जिसका मूलमंत्र है **'न भावहीनोऽस्ति रसः न भावो रसवर्जितः'** (भरत) ।

रूपवादी व्याख्या

इसमें संदेह नहीं कि सौन्दर्य तथा कला के विषय में भारतीय दृष्टिकोण चिन्मय तत्त्व को ही प्रधानता देता रहा है, परन्तु भौतिक एवं रूपवादी अवधारणा का सर्वथा अभाव नहीं है । वेदों में प्राकृतिक जीवन के वैभव और उल्लास के शत-सहस्र चित्र मिलते हैं, और कामसूत्र में कला का मूल प्रयोजन नागर जीवन की समृद्धि माना गया है । इधर काव्यशास्त्र में रीति तथा अलंकार सिद्धान्त सौन्दर्य की रूपवादी व्याख्या ही प्रस्तुत करते हैं । सौन्दर्य का अर्थ है अलंकार, अलंकार शब्द-अर्थ रूप काव्यशरीर का धर्म है । रीति काव्य की आत्मा अथवा मूल सौन्दर्य है—और रीति नाम है पद-रचना अर्थात् भाषिक संरचना का । इस प्रकार इन सिद्धान्तों के अनुसार सौन्दर्य शरीर का धर्म है—वह रूप या संरचना में निहित रहता है । सौन्दर्य के कतिपय पर्याय, जैसे सौष्ठव आदि, अंगसाम्य अथवा आवयविक सामञ्जस्य का ही वाचन करते हैं । रामायण-महाभारत में स्त्री-पुरुषों के सौन्दर्य-वर्णन में अंग-संगति, समसुजात तथा सुविभक्त अवयव-रचना को स्थान-स्थान पर रेखांकित किया गया है । भक्तिरसामृतसिंधु जैसे भावप्रधान ग्रंथ में भी अंगों के यथायोग्य सन्निवेश को ही सौन्दर्य की संज्ञा दी गयी है : **भवेत् सौन्दर्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम्** । १.११४ ।
सौन्दर्य की रूपवादी व्याख्या का सर्वाधिक प्रमाण मिलता है सामुद्रिक शास्त्र और उससे प्रभावित शिल्पशास्त्र में । यहाँ अंगों के परिमाण व स्वरूप आदि का अत्यन्त सूक्ष्म और सटीक विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

सौन्दर्य की सत्ता—वस्तुनिष्ठ अथवा व्यक्तिनिष्ठ ?

इस प्रश्न पर भी भारतीय दर्शन, काव्य, काव्यशास्त्र तथा कलाशास्त्र आदि में गंभीर चिंतन किया गया है। भारतीय दर्शन में पदार्थ की सत्ता पारमार्थिक भी मानी गयी है और प्रातिभासिक भी। वह वस्तु रूप भी है और प्रतीति रूप भी। सौन्दर्य के इसी उभयनिष्ठ का निर्वचन करते हुए कालिदास ने लिखा है :

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुंक्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तं प्रविविश्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥

(कु० सं० १......)

सौन्दर्य-श्री जब चन्द्रमण्डल में रहती है तो पद्म के गुणों का भोग नहीं कर पाती, और जब पद्म में रहती है तो चन्द्रमा की शोभा से विहीन हो जाती है। किन्तु यह चंचला उमा के मुख में अवस्थित होकर उभयनिष्ठ प्रीति का आलम्बन बन गयी। **लावण्य** की परिभाषा भी इसी तथ्य का पोषण करती है :

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं तदिहोच्यते ॥

(उज्ज्वलनीलमणि, पृ० २७३)

—मोतियों के भीतर से झलकती हुई आब की तरह अंगों में जो आंतरिक छवि झलकती है, उसे लावण्य कहते हैं। अर्थात् लावण्य से अभिप्राय है ऐसे आकर्षण का, विषय का गुण होने पर भी जिसकी प्रतीति विषयी पर निर्भर करती है।

पाश्चात्य मनीषी की भाँति भारतीय सौन्दर्य-विवेचक भी यह मानता है कि यद्यपि सौन्दर्य की रचना भौतिक उपकरणों से ही होती है, किन्तु ये उपकरण केवल सौन्दर्य के उपादान हैं कारक या कर्ता नहीं हैं—कर्ता है कलाकार का मन—प्रतिभा अर्थात् अनुभूतिप्रवण कल्पना।

रूपाकृति

रूपाकृति का अर्थ है सौन्दर्य का गोचर रूप जिसके अनेक दृष्टिग्राह्य तथा कल्पनाग्राह्य तत्त्वों का उल्लेख पाश्चात्य कलाविदों ने किया है। ये गुण हैं आकार, सममिति, अनुपात, वैचित्र्य-विविध्य, वर्ण, दीप्ति, और इन सब में अन्तर्व्याप्त अन्विति। भारतीय सौन्दर्यचिन्तन में इन सब का स्पष्ट वर्णन है—

वेदों में, रामायण, महाभारत तथा अभिजात संस्कृत काव्य में, प्राकृतिक सौन्दर्य के संदर्भ में और चित्रमूर्ति तथा वास्तुकला के ग्रंथों में, कलागत सौन्दर्य के संदर्भ में, इन समस्त तत्त्वों का विस्तार के साथ उल्लेख है। कलाशास्त्र के ग्रंथों में आंतरिक समन्विति के भेदों का अत्यंत सूक्ष्म-जटिल विवेचन हुआ है।

सौन्दर्य-दृष्टि

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य-दृष्टि को बड़ा महत्त्व दिया गया है और उसकी कतिपय निश्चित विशेषताओं का आकलन किया गया है। सौन्दर्य-दृष्टि, व्यवहार-दृष्टि के सर्वथा विपरीत, ऐहिक प्रयोजन से सर्वथा निरपेक्ष होती है। उसमें परिणाम का महत्त्व नहीं होता—उसका लक्ष्य होता है सद्यः-परनिर्वृति। सौन्दर्य-दृष्टि सर्वथा निर्वैयक्तिक होती है। प्रमाता सुन्दर पदार्थ अथवा कृति को अपने संदर्भ में नहीं देखता, उसकी दृष्टि कृति के स्वरूप पर ही केन्द्रित रहती है। इस प्रकार वह स्व-पर की भावना अर्थात् व्यक्ति-संसर्गों अथवा रागद्वेष से सर्वथा मुक्त सार्वभौम होती है। सौन्दर्य-दृष्टि की एक अन्य विशेषता है तटस्थता। इसका अर्थ यह है कि प्रमाता विषय में लिप्त नहीं होता—उसके और भाव्यमान विषय के बीच एक प्रकार का अंतराल बना रहता है।

भारतीय रस-सिद्धांत में रसास्वाद के विवेचन के अंतर्गत इन सभी विशेषताओं का अत्यंत स्पष्ट एवं प्रामाणिक विवेचन किया गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार स्थायी भाव की निर्विघ्न प्रतीति का नाम रस या सौन्दर्यानुभूति है। निर्विघ्न प्रतीति का अर्थ है देशकाल से अनालिंगित—साधारणीकृत—अर्थात् व्यक्तिगत रागद्वेष, स्व-पर, सम्बन्ध-सम्बन्धी भाव से मुक्त, निर्वैयक्तिक अनुभूति। सौन्दर्यानुभूति की स्थिति में प्रमाता का चित्त अपने संदर्भों का विस्मरण कर भाव्यमान पदार्थ में तन्मय हो जाता है। यह अनुभूति स्वगत अथवा परगत, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष न होकर सद्यःपरनिर्वृति रूप होती है।

३. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का वैशिष्ट्य

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन संतुलित एवं समाकलित दर्शन है जो सौन्दर्य का विचार जीवन के अन्य मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में ही करता है। वह सौन्दर्य का स्वतंत्र

महत्त्व इस अर्थ में स्वीकार करता है कि सौन्दर्य की सत्ता धर्म, अर्थ, काम में निमज्जित नहीं होती। काम के साथ सौन्दर्य का मौलिक सम्बन्ध है, किन्तु सौन्दर्य का स्वरूप काम को अतिक्रांत कर ही निखरता है : काम स्वयं सौन्दर्य नहीं है, काम का उन्नयन सौन्दर्य है। इसके अतिरिक्त काम स्वयं भी तो निरपेक्ष मूल्य नहीं है : वह अर्थ से साधित और धर्म से अनुशासित रहकर अंततः चेतना की मुक्ति में पूर्णता-लाभ करता है। इसी क्रम से सौन्दर्य भी काम के साथ अर्थ, धर्म तथा मोक्ष से संबद्ध है। वह अन्य जीवन-मूल्यों से पोषण प्राप्त करता है और फिर बदले में उन्हें सरस समृद्ध बना देता है। भारतीय वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य—सभी कलाओं का एक सीमांत अर्थ और काम से तथा दूसरा धर्म और मोक्ष से जुड़ा हुआ है। वास्तु-कला के अंतर्गत एक ओर हैं राज-निवेश जिनका सम्बन्ध अर्थ-काम—अर्थात् वैभव-विलास से है और दूसरी ओर हैं मंदिर जो धर्म की शांति तथा आत्मा की ऊर्ध्वगति के प्रतीक हैं। मूर्तिकला तथा चित्रकला भी इन दोनों सीमांतों का स्पर्श करती हैं : अनेक प्रसिद्ध मंदिरों पर उत्कीर्ण श्रृंगारिक चित्र-मूर्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि भारतीय कला में जीवन के विविध मूल्य परस्पर ओतप्रोत रहते हैं। संगीत और काव्य से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है : उनकी एक सीमा श्रृंगार और दूसरी शांत का निरन्तर स्पर्श करती रहती है। इस प्रकार भारतीय सौन्दर्य-कल्पना समग्र जीवन-दर्शन के साथ समेकित है। सौन्दर्य-कला तथा धर्म-नीति के बीच जो संघर्ष यूरोप में प्रायः निरन्तर चलता रहा, वह वहाँ कभी उभर कर नहीं आया।

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मौलिक संबंध आनन्दवाद के साथ है। यद्यपि रूपवादी या वस्तुवादी दृष्टि का एकांत अभाव नहीं है, फिर भी सौन्दर्य को मूलतः आत्मा की ही प्रवृत्ति माना गया है। भारतीय कला का मूल उद्देश्य है अरूप, चिन्मय तत्त्व को रूपायित करना। असीम चिन्मय तत्त्व जब स्वयं को प्रकट करना चाहता है तो विश्व-कला की सृष्टि होती है, और जब व्यक्ति-बद्ध ससीम चिन्मय तत्त्व आत्माभिव्यक्ति करना चाहता है तो मानवीय काव्य या कला की सृष्टि होती है। इस प्रकार भारतीय अद्वैत—विशेषतः शैवाद्वैत दर्शन की भाँति, भारतीय सौन्दर्य-दर्शन भी आत्मा और देह का अभेद सम्बन्ध मानता है। जिस प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति देह के रूप में होती है, इसी प्रकार चित् तत्त्व की अभिव्यक्ति कला-रूप के माध्यम से होती है। रस, ध्वनि (प्रतीक) और रूप का यह सम्बन्ध काव्य से लेकर चित्र-मूर्ति तथा वास्तु कला में भी प्रतिफलित होता है। चित् तत्त्व का गौरव तो असंदिग्ध है ही, रूप की प्रतिष्ठा भी कम नहीं है। अतः सौन्दर्य के अनुभूति पक्ष को महत्त्व देने पर भी भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में रूप का मूल्य कम नहीं माना गया और उसके

विविध उपकरणों एवं अलंकरणों का पूरे मनोयोग से विवेचन हुआ है। रस-रूप आत्मा और रीति-अलंकार-रूप शरीर के बीच ध्वनि या व्यंजना का सेतु बना हुआ है जो दोनों के द्वन्द्व को समाहित करता रहता है। अतः कला के आत्म-तत्त्व और रूप का समाकलन भी भारतीय सौन्दर्य-दर्शन में उसी प्रकार सिद्ध है जिस प्रकार सौन्दर्य तथा अन्य जीवन-मूल्यों का।

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन अद्वन्द्व और सामरस्य का दर्शन है : अभिव्यक्ति के स्तर पर यह सौन्दर्य है और अनुभूति के स्तर पर आनन्द।

●●●

नामानुक्रमणिका

'अग्निपुराण' ७५
'अणुभाष्य' ६६, ६७
'अथर्ववेद' ३४, १४२, १८६
'अपराजितपृच्छा' ७४, ७७, ७८, १३७
'अभिज्ञानशाकुंतलम्' ५३, ५४, ६४, १२०, १२१, १४७, १४८, १५०, १७२
अभिनवगुप्त ४७, ४८, ५६, ५८, ५९, ६१, ६२, ८३, ९०, ९६, १०१, १०४, १०८, १२८, १२९, १३०, १८०, २०४
'अभिनवभारती' (हिन्दी 'अभिवन-भारती') ६१, ८३, ८९, १०१, १०२, १०३, १०४, १०८, १०९, १२८, १७३
'अभिलषितार्थचिंतामणि' ७४, ७८, ९८, १३७, १९४
'अमरकोश' ३१
अरस्तू २५, ९९, १५८
अर्बन १५९
आई० ए० रिचर्ड्स ८, ११८
आनंदवर्धन ४७, ४८, ८६, ८७, १२८, १५१, १७८, १७९

इलियट १२९
'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी', (भाग २) ६१

'उज्ज्वलनीलमणि' ६९, ७०, २०३
'उत्तररामचरित' १४९, १९७
उत्पलाचार्य ५९, ६२
उशीनर ७९
'ऋग्वेद' ३३, ३४, ३५, ३६, ९२, ११९, १४२, १६७, १६८, १६९

एडिसन ६६
'एथिक्स' १५६
'ए मॉडर्न बुक ऑफ़ ऐस्थेटिक्स' २६
एरेनफ़ेल्स १५६
एवरेट, डब्ल्यू० जी० १६१
'ऐन इंट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स' ७, १५, ३०
'ऐसेज़ ऐण्ड स्टडीज़' १७६
'ऐस्थेटिक' १७५

'कठोपनिषद्' ३७, ६७, १६७, १६९
कल्लिनाथ ८०
कांट १, ४, १०, १२, १३, २१, २२, २३, २६, १५६, १७५
कांतिचंद्र पांडेय (डा०) ७१, ७३
'कादंबरी' ५५
'कामकला-विलास' ५६
'कामसूत्र' ७१, ७२, ७४, १२२, १८५, २०१, २०२
कालिदास ४६, ५४, ६४, ६५, १२०, १२१, १४६, १५०, १५१, १७१, १७२, १८६, १६६, १६७, २०२, २०३
'कालिदास की लालित्य-योजना' २०१
'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' ७३
'काव्य-प्रकाश' ८५, १०८, १७४, १८२
'काव्य-मीमांसा' ८८, १८२, १८५
'काव्यादर्श' ८५, ११२, १७८
'काव्यालंकार' ५६, ८४, ८५, ८६, ११२, १७७, १७८
'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' ८३, ८६, ९०, १११, ११२, १७३, १८५

कुंतक ६, ८२, ८३, ८४, ८६, ८८, ९१, ११४, ११५, १२७, १३०, १३१, १३२, १५२, १५३, १५४, १५५, १८०, १८१, १९०, १९४
'कुमारसंभव' ६४, ६५, १४८, १७२, २०१, २०३
'कृष्णस्तवराज' ६७
केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य १०७
कैरिट, ई० एफ़ ४, ५, ७, १६, २६, ३०
कोहल ८०
'क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट' १७५
क्रोचे १०, १२, ४६, १४५, १७५
क्लींथ ब्रुक्स १९१
क्षेमराज ६२, ७३
क्षेमेन्द्र ८२

गांधी, महात्मा १६०
'गीता' ६३, १६५
गोविन्दचन्द्र पांडेय (डा०) १६७

'चन्द्रालोक' ६८
चैतन्य महाप्रभु ६५, ६६, १६६
'छांदोग्योपनिषद्' ११९

जगन्नाथ, पंडितराज ५८, ८३, ८७, १७७, १८०, १८५, १९०
जयशंकर प्रसाद ७३, ७४
जीवगोस्वामी ६६
ज़ेनोफ़नेस १८९
टालस्टाय २५, १९०
ड्यूई १६०

'तंत्रालोक' ६१
'तैत्तिरीयोपनिषद्' १६६

दंडी ७४, ८४, ८५, १४६, १७८
दत्तक ७१
'दत्तिलम्' ८०, १२४
दयानन्द, स्वामी १८६
'दशरूपक' १८१
दासगुप्त (डा०) ८३
'दि एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना,' (खंड २७) १५८
'दि डिसेंट ऑफ़ मैन', (भाग १) २५
'दि थियरी ऑफ़ ब्यूटी' ५, ७, १६, २६
'दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ फ़ाइन आर्ट' २
'दि सेन्स ऑफ़ ब्यूटी' १५, २५, २६, १३३
'दि स्ट्रक्चर ऑफ़ ऐस्थेटिक्स' २
द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल (डॉ०) १३६, १४३, १८४

धनंजय १८१
धनिक १८१
'ध्वन्यालोक' ४७, ६१, ८६, ८७, ६०, ११६, १२८, १३०, १७६

नंदिकेश्वर ८०
'नाट्यशास्त्र' ७६, ६७, ६६, १२४, १२५, १२६, १३६, १७७, १८५
नारद ७६
'नारद-शिल्प' ७६
'नारदीय शिक्षा' ७६, १२६, १८३
निम्बार्काचार्य ६५, ६६, ६ध
'नीतिशतक' १८८
नीत्शे २५
'नृसिंहतापिनी उपनिषद्' ६७

पांचाल ७१
पाइथोगोरस १८६
पैरी १५६
पोप, एलेक्ज़ांडर १८७
'प्रतिमा-लक्षण' १४३
'प्रतिमा-विज्ञान' १८४
प्रेमस्वरूप गुप्त (डॉ०) ११०
'प्रोब्लम्स इन दी फ़िलासफ़ी ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' २
प्लेटो १२, २०, २१, ५५, १५८, १६०
प्लोटिनस १२, २१, २००

फतहचन्द (डॉ०) ६३
फ़ैख़नर १३

बर्क ४
बाण ५५, १६७
बुअलो १८६
'बृहत्संहिता' ७५
'बृहदारण्यक उपनिषद्' ६७, १६८
'बृहद्देशी' ८०
बेंथम १६०
बोसांके १२, १६०
'ब्रह्मसूत्रभाष्य' ६६
'ब्राह्मण' ग्रंथ ७६, ११६, १८६

'भक्तिरसामृतसिंध' ६६, ६७, २०२
भगवद्भक्तिरसायन' ७१
भट्टतोत ५६, १२६, १३१
भट्टनायक ६१, १२८, १७६

भरत ७६, ६७, ६६, १००, १०१, १२५, १७७, १८५, २०२
भर्तृहरि १८८
भवभूति ५५, १४६, १५०, १८६, १६६, १६७
भामह ७४, ८४, ८५, ८६, ११२, १४१, १७७, १८५, १८८, १६०
'भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास' १७१
'भारतीय संगीत का इतिहास' १२५
भारवि १८६
भी० ला० आत्रेय (डॉ०) १७१
भुवनदेव ७७, ७८
भोज ७७, १५१, १८०, १८५

मतंग ८०
'मत्स्यपुराण' ७४
मधुसूदन सरस्वती ७१
मध्वाचार्य ६५, ६६
'मनुस्मृति' १८६
मम्मट ६२, ८४, ८५, १०८, १७४, १८०, १८२, १८५, १६०
'मयमत' ७४
'महाभारत' ४८ से ५४, ६३, १२०, १४४, १७०, १७१, १८६, १८८, १६०, १६३, १६५, १६७, २०१, २०२, २०३
महिमभट्ट ५६, १३०, १८०, १८२
'मांडूक्यकारिका' ५८
माइनांग १५६
माघ ५५, १६६
'मानसार' ७४, १३७
'मॉरल वैल्यूज़' १६१
'मालविकाग्निमित्र' १२१, १२२, १७२
'मूल्य-मीमांसा' १६७
'मेघदूत' ५४, १२१
मेरिटेन २६
मोनियर विलियम्स ७३, ७४

'यंत्रविज्ञान तथा चित्रकला' १३६
'यजुर्वेद' ३३, १४२, १६८
यशोधर ७२, ७३, ७४, ८१, १२२, १४३
'योगदर्शन' ५६, ६६, १६८
'योगभाष्य' ५६

'रघुवंश' ४७, ५४, १४६, १५१, १६७
रवीन्द्रनाथ ठाकुर ५५
'रसकलिका' १०६
'रसगंगाधर' ८७, १०८, १८५
'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' ११०
रस्किन १६७
राइस डेविड्स (श्रीमती) १६७
राघवन (डॉ०) ७६, १०६
राजशेखर ८७, ८८, १२७, १३०, १३१, १८२, १८५, १८६
रामचन्द्र-गुणचन्द्र १०८
रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य ८३, १२६, १४७
रामानुजाचार्य ६५, ६६
'रामायण' ३१, ३८ से ४८, ६३, १२०, १२६, १७१, १८६, १६०, १६३, १६५, १६७, २०१, २०२, २०३
'रासपंचाध्यायी' ६८
रुद्रट ५८, १३०, १४१, १७८, १८५

रुद्रभट्ट १०९
रूपगोस्वामी ६९, ७०

लोंजाइनस ४, २५
'लोचन' ४७
लोल्लट १०९

'वक्रोक्तिजीवितम्' ९, ८४, ८६, ८८, ९१, ११५, १३१, १४८, १५२, १५४, १५६
वल्लभाचार्य ६५, ६६, ६७
बाउमगार्टन, एलेक्ज़ांडर १
वात्स्यायन ७१, ७२, १८५
वामन ७४, ८३, ८६, ११०, १११, १२७, १४६, १७३, १७४, १८५, १९०, १९१, १९४
'वाराहोपनिषद्' १८३
वाल्मीकि ४०, ४७, ४८, १२९
वासुदेवशरण अग्रवाल (डॉ०) ३६, ११६
विट्ठलनाथ ६८
विमसाट १४५
विश्वनाथ ६२, ८४, ८५, ८६, ८९, १८०
'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' ७४, ८१, ९८, १२२, १२३, १२४, १३८, १४४, १९८
'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' ६६
'व्यक्तिविवेक' ५६
ह्वाइटहेड १०

शंकुक १७३
श० श्री० परांजपे १२५
शार्ङ्गदेव ८०
शिंगभूपाल ८०, १२५
'शिल्परत्न' ७४, ७८, १३७
'शिवदृष्टिवृत्ति' ५९, ६०
शिवसूत्रविमर्शिनी' ७३
'शुक्रनीति' ७४, ८१, ८२, ९८
शैले १८९
शोपनहोर २५
श्रीकुमार ७८
'श्रीभाष्य' ६६
'श्रीमद्भागवत' ६३, ६४, ६५, २०१
'श्रीसुबोधिनी' ३८
श्रीहर्ष ५५, १९७

'संगीत-मेरु' ८०
'संगीत-रत्नाकर' ८०, ९८, १२४, १२५, १२६, १८३
संत ऑगस्टीन २१, २२
संत ऐक्विनस २१, २२, २३
'समरांगणसूत्रधार' ७४, ७६, ७७, १२४, १३३, १३७, १३८, १३९, १४३, १८४
'सामवेद' ७९
सायण ९२, २०१
'सारस्वत चित्रकर्मशास्त्र' ७९
'साहित्यदर्पण' ८५, ८६, ९०, १०५, १२८
'साहित्यालोचन' १०७
सिडनी १८९
सुकरात २०, २१
सुबन्धु १९७
सुवर्णनाभ ७१
सेंटायना, जॉर्ज १५, २५, २६, १३३, १४५, १५२

सोमेश्वरदेव ७८
स्टुअर्ट मिल १९०
स्पारशॉट, एफ़० ई० २, ७, १०
स्पिनोज़ा २५, १५९
स्पेंसर १८६
'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' ७१, ७३
स्विनबर्न १७६

हंटर मीड ७, ८, १५
हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य २०१
'हयशीर्षपंचरात्र' ८१, १३७, १८३
हरबर्ट २३
'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' ६९
'हर्षचरित' ५५, १९८
'हिन्दी नाट्यदर्पण' १०९
'हिप्पिअस मेजर' २०
हीगेल १, २, ३, १०, १२, १३, २१, २२, २३, २९, १६०
हेराक्लिटस १८९
हेलमुट कून्न २
होमर १८६
होरेस १८६

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

[स्थापित : सन् १९५० ई०]

श्रेष्ठ एवं अधुनातन लेखन-प्रवृत्तियों और
उपलब्धियों का प्रकाशन-प्रतिष्ठान ।

२३, दरियागंज, दिल्ली-६ । फोन : २७२५७१